प्राप्तिस्थान—

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल
रतलाम।

श्री जैन जवाहर मित्र मण्डल
मेवाड़ी बाजार, ब्यावर।

श्री सोहनलाल जैन रजोहरण पात्र
भण्डार, अम्बाला (पंजाब)

श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था
बीकानेर (मारवाड़)

श्री जैन जवाहर मण्डल, रायपुर
(सी० पी०)।



प्रका —

श्री ाधुमार्गी ैन पूज्य श्री हुक्मी न्द ी हारा ी
सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मण्ड , रत म.



द्रक—

राधाकृष्णात्मज बालमुकुन्द मो
शारदा प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम.

आवश्यक निवेदन



श्रीमज्जैनाचार्य स्वर्गीय पूज्यश्री जवाहिरलालजी महाराज ाहव जैन समाज मे सुप्रसिद्ध व्याख्याकार हो चूके हैं। उनके प्रवचनों को तत्व विभाग एवं कथा विभाग के रूप में इकवीस पुस्तक तो मंडल ने प्रकाशित किये हैं और इतने ही पुस्तक श्रीजवाहिर साहित्य समिती भिनासरने "जवाहिर किरणावालियों के रूपमें" प्रकाशित किये हैं !

पूज्यश्री की व्याख्या शक्ति अद्भुत थी उन्होंने जैनागमों पर जो मार्मिक व्याख्या की है उसमे से "श्रीभगवती सूत्र के" प्रथम शतक के व्याख्यानों का तनि भागों में पहले प्रकट करचूके है। ाज यह च थे भाग भी आपकी सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष है।

प्रथम भागमें केवल सूत्रकी पीठिकाही दीगई है दुसरे भाग म प्रथम शतक क प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक की व्याख्या है तीसरे में उद्देशक तक तीन उद्देशाकोंकी व्याख्या है और इस चतुर्थ भाग में केवल प्रथम शतक के छुठा, सातवां इन दो उद्देशकों की व्याख्या आयी है। अवतो तीन उद्देशकों की व्याख्या रही है वह पंचम भागमें पूर्ण हो जायगी तो ठीक है अन्यथा छठ्ठा भाग में पूर्ण की जायगी। इ पर से विचार किया जा सकता है कि सम्पूर्ण भगवती सूत्रकी व्याख्या की होती तो न जाने कितने भागों में पूर्ण होती। ऐसे प्रखर व्याख्याकार का स्मारक उनके प्रवचनों को साहित्य रूपमें प्रकाशित करके जनताके हाथों में पहुँचा ही है, जनता इस

प्रकाशन में जैनागमों के रहस्य एवं तत्व को समझे यही सच्ची साहित्य सेवा है ।

उक्त भगवती सूत्र के व्याख्यानों के सम्पादन का श्रीगणेश श्रीमान सेठ इन्दरचंद जी साहब गेलड़ा की उदारता एवं श्रीमान ताराचन्दजी साहब गेलड़ा की प्रेरणा से हुवा है अतः उन दोनों महानुभावों को हम हार्दिक आभार प्रदर्शित करते हैं ।

इस चतुर्थ भाग के प्रकाशनमे रू. ३०१) तीनसो एक-श्रीमान सेठ रावतमलजी हरकचदजी बोईतरा बीकानेर वालों के तरफ से और बाकी रकम बचत खाते में से लेकर इस पुस्तक का मू०रू.१॥≈ के बजाय पौणामूल्य रू.१।) सवा रूपैया रखा जाता है ।

सद्ज्ञान के प्रचारक उदार श्रीमन्तों से निवेदन है कि पांचवें तथा छठेभागके प्रकाशन में अपनी उदारता का परिचय देकर अपने नाम आफिस मे नोद करा दें ताकि मंडल के कार्यकर्ताओं की भावनानुसार अल्प मूल्य में साहित्य जनता की सेवामे उपस्थित कर सके ।

अन्तमें हम यह जाहिर कर देना योग्य समझते हैं कि पूज्य श्रीके प्रवचन साधुभाषा मेही होते थे संग्राहक या सम्पादकों से कोई त्रुटि हो गई होतो वह दोष हमारा है । कोई वाक्य जैनागम शैलीसे विपरीतनिगाह में आवेतो सूचित करनेसे साभार संशोधन कर दिया जायगा । इत्यलम् ।

रतलाम फाल्गुन पूर्णिमा २००६ ।

भवदीय—

हीरालाल नांदेचा — प्रेसिडेन्ट

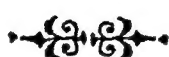
बालचन्द श्रीश्रीमाल — वाईस प्रेसिडेन्ट

श्र ्भगवतीसूत्रम्

(पञ्चम ङ्गम्)

चतुर्थ भाग

थ शतक ेद्देशक



विषय-प्रवेश

प्रत्येक उद्देशक की आदि में जिस प्रकार उपोद्घात किया गया है, उसी प्रकार का यहां भी कर लेना चाहिये। पाँचवें उद्देशक के साथ इस छठे उद्देशक का क्या संबंध है, यह जान लेना आवश्यक है। पाँचवें उद्देशक के अन्त में कहा गया है कि असंख्यात ज्योतिषी देवों के असंख्यात स्थान हैं। जो देव ज्योतिर्मय हैं, उन्हें ज्योतिष्क कहते हैं। चन्द्र, सूर्य, ग्रह नक्षत्र, और तारा, यह पाँच प्रकार के ज्योतिष्क देव हैं।

पाँचवें उद्देशक के अन्त में ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का वर्णन किया था। इन दोनों प्रकार के देवों में क्या अन्तर है?

इसका अन्तर यह कि ज्योतिपी देव दिखाई देते हैं, और वैमानिक देव नहीं दिखाई देते।

कई लोग कहते हैं, कि स्वर्ग नहीं देखा, लेकिन स्वर्ग भले ही न देखा हो मगर चन्द्र, सूर्य तो प्रतिदिन दिखाई देते ही हैं। जब चन्द्रमा, और सूर्य, है तो उनमें बसने वाले भी कोई देव होंगे ही। यह चन्द्र, और सूर्य हमे जो दिखाई देते है, ज्योतिपी देवो के विमान है। यही चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, और तारे के रूप में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं। कदाचित् चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह और तारे किसी समय न दिखाई दे तो भी सूर्य तो विना नागा प्रतिदिन प्रत्यक्ष होता है। अतएव इस उद्देशक मे सूर्य के संबंध मे प्रश्न करते हैं।

मूल पाठ—प्रश्न—जावइयाओ णं भंते! उवासंतराओ उदयंते सूरिए चक्खुप्फासं हव्व- मागच्छति, अत्थमंते वियणं सूरिए तावतिया- ओ चेव उवासंतराओ चक्खुप्फासं०!

उत्तर—हंता, गोयमा! जावइयाओ णं उवासंतराओ उदयंते सूरिए चक्खुप्फासं०। अत्थयंते वि सूरिए जाव हव्वमागच्छति।

२—जावइया णं भंते! खित्तं उदयंते सूरिए आयवेणं सव्वओ समंता ओभासेइ,

उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, अत्थमंते वियणं
ूरिए ताव यं चव खित्तं आयवेणं व्वओ
ता ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ पभ सेइ ?

उत्तर–हंता, गोयमा ! जावातियं णं ि त्तं
ज व–पभासेइ ।

श्न–तं भंते ! ि पुट्ठं ओ भ सेइ,
अपुट्ठं ओ भासे !

उत्तर–ज्ञाव–छद्दिसिं ओ भासेति । एवं
उज्जोवे , तवेइ, पभासेइ, ज व नियमा छ सिं ।

श्न–से णूणं भंते ! सव्वंति सव्व वं
फुस ण काल समयंसि ज वतियं त्तं फुसइ
ावतियं 'फसमाणे पुट्ठे' त्ति वत्तव्वं सिया !

उत्तर–हंता, गोयम ! सव्वं ति जाव-
व व्वं सिया ।

श्न–तं भंते ! किं पुट्ठं फुस , अपुट्ठं
फु !

उ र-ग्राव-ि यमा छद्दिसिं ।

—संस्कृत-छाया—प्रश्न—यावतो भगवन् ! अवकाशान्तराद् उदयन् सूर्यश्चक्षुःस्पर्श शीघ्रमागच्छति, अस्तमयन्नपि च सूर्यस्तावतश्चैव अवकाशान्तरात् चक्षुःस्पर्शम् ?

उत्तर—हन्त गौतम ! यावतोऽवकाशान्तराद् उदयत् सूर्यश्चक्षुःस्पर्शम्, अस्तमयन्नपि सूर्यो यावत्-शीघ्र मागच्छति ।

प्रश्न—यावद् भगवन् ! क्षेत्र मुदयन् सूर्य आतपेन सर्वतः समन्ततोऽवभासयाति, उदद्योतयाति, तपति, प्रभासयाति, अस्तमयन्नपि च सूर्यस्तावच्चैव क्षेत्रम् आतपेन सर्वतः समन्ततोऽवभासयाति, उद्द्योतयाति, तपति, प्रभासयति ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! यावत्कं क्षेत्रं यावत् भासयाति ।

प्रश्न—तद् भगवन् ! किं स्पृष्टमवभासयाति, अस्पृष्टमवभासयाति ?

उत्तर—यावत्—षड्दिशमवभासयति, एवमुद्द्योतयाति, तपाति प्रयासपति, यावत् नियमात् षड्दिशम् ।

प्रश्न—तद् नूनं भगवन् ! सर्वत इति सर्वायमिति स्पृश्यमान काळ समये यावत्क क्षेत्रं स्पृशति, तावत्कं स्पृश्यमानं स्पृष्टम् इतिवक्तव्यंस्यात् ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! सर्वमिति यावत् वक्तव्यं स्यात् ।

प्रश्न—तद् भगवन् ! किं स्पृष्टं स्पृशाति, अस्पृष्टं स्पृशाति ?

उत्तर—यावत्-नियमात् षड्दिशम् ।

शद्धार्थ—

न—भगव ! जि व । न्तर ति
ि तनी दूरी उगता ूर्य ाँ ों देखा । । , नी
ी ूरी अस्त होता हु । सूर्य भी ीघ्र दि ई देता ?

त्तर—हे गौ म ! हाँ, जितनी दूर उ । सूर्य
ाँखों दी ता है, उतनी ी दूर अस्त होता सूर्य भी
ों से दिख ् देता ।

प्रश —भगवन् ! उ ता ूर्य पने ताप द्वारा जि
त्र ो, ार, चारों ओर सभी दिशा ों और
विदिशा ों में-प्र ाि त रता है, उ ोति र । है, तपा ।
है और ् उष्ण रता है, उतने ही चेत्र ो दिशा ों
ौर विदि । ों में स्त होता ूर्य भी अपने प
द्वारा प्र ाि र है ? उद्योति रता है ? तपाता है ?
् उष्ण र है ?

उत्तर—गौतम ! हां, ता सूर्य जितने चेत्र ो
प्र ाि र । है उतने ी त्र ो अस्त होता ूर्य भी
ाशित रता है यावत् ् व ष्ण रता ।

प्रश्न—भगवन् ! ूर्य जिस चेत्र को प्र ाशित रता
, वह चेत्र ूर्य स्पृष्ट स्पर्श ि या हु । होता है या
स्प ोता ?

त्तर ा ! वह दे ूर्य े स ोता है और यावत् उस क्षेत्र ो छहों दिशा ों में प्रकाशित रता है, उद्योतित रता े, तपाता है ेर ूब पा ा है। यावत् निय पूर्व छहों दिशाओं में ूब तपाता है।

प्रश्न—भ वन् ! स्पर्श रने के ा -समय े सर्वाय-सूर्य के साथ संबंध र ने वा े जितने क्षे ों वं दि ाओं में सूर्य स्पर्श रता है उतना स्पर्श किया जाता हु ा वह क्षेत्र 'स्पृष्ट' हा ा ता े ?

उत्तर— ेतम ! हां, सर्व यावत् ऐसा हा जा ता है।

प्रश्न—भगवन् ! सूर्य स्पृष्ट े ा स्पर्श र ा है या स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श रता है ?

उत्तर—हे गौत स्पृष्ट क्षेत्र ा स्पर्श रता है। यावत्-नियम से छहों दिशाओं में स्पर्श रता है।

व्याख्या

गौतम स्वामी का पहला प्रश्न यह है कि-भगवन् ! उगता सूर्य, जितनी दूर से आँखों से दिखाई पड़ता है, क्या डूबता हुआ सूर्य भी उतनी ही दूर से आँखों से नजर आता है ? गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया-हाँ,

यीं र

गौतम ! उगता हु । ैर बता हु । सूर्य, न दूरी
ाँ दिखाई दे ।

यहाँ य ाशंका ोती है कि गौतम स्वामी य
प्रश्न क्यों उठाया है ? इ । क्या प्रयोजन है !

र्य ंबंध में एक ौचौरा ी (१८४) मं ।
धि र हा है। र्क की सं ान्ति पर सूर्य र्वाभ्यन्तर
(व पिछे वाले) मंड में रहता है। उ मय ब रत
त्र में रहने वा ों को ४७२६३ योजन दूरी दी ता है।
इ ीि ए यहाँ गौतम स्वामी ने जितनी दूर इ प्र र
मुच्चय प में हा ।

न्द्रियाँ दो प्र र ी है प्राप्यकारी और प्राप्यकारी
ो इन्द्रियाँ अपने ग्राह्य विषय को स्पर्श करके जानती हैं वह
प्राप्यकारी हलाती हैं। स्पर्शन रसना घ्राण ैर श्रोत्र यह
ार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं। जबतक स्पर्शनेन्द्रिय के ाथं स्प
ा ंबंध हो तब त वह स्पर्श को नहीं जान कती।
इसी प्रकार र ना इन्द्रिय के ाथ ब र ा स्पर्श होता है।
तभी र ना ो खट्टे मीठे आदि रस का ज्ञान होता है। यही
बात घ्राण के संबंध में हैं। गंध के आधारभूत द्गल जब
नाक ो छूते हैं, तभी नाक गंध या दुर्गंध को जान पाता
हैं,। ान उसी शब्द को सुनता है, जा कान में ा र
टकराता है। तएव यह चारों इन्द्रियाँ प्राप्यकारी क ाती
हैं। केवल इन्द्रिय अप्राप्यकारी है। अर्थात् वह पने
विषय रूप छुए बिना ही, दूर से देख लेती है। स्पर्श हो
पर तो वह पने में रहे हुए काजल को भी नहीं दे पाती
ि र औरों ी तो बात ही हाँ हैं ?

प्रस्तुत प्रश्न में गौतम स्व ी ने चक्षु के साथ स्पर्श कहा है, अतएव यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शास्त्र में एक जगह तो चक्षु को अप्राप्यकारी कहा है और यहां चक्षु के साथ सूर्य का स्पर्श होना क्यों ा है? इ प्रश्न का उत्तर यह है कि यहां चक्षु के साथ सूर्य का स्पर्श होना कहा है सो यह केवल अलंकार है। जैन शास्त्रों में तो बहुत कम अलंकारिक भाषा का प्रयोग किया गया है, परन्तु पुराणों में अलंकार का इतना बाहुल्य है कि कई लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। लंकारों के भीतर छिपी हुई बात को समझने का प्रयत्न ना चाहिए। उसी से सचाई का पता चलता है।

यहां सूर्य और ंखों के स्पर्श का अर्थ यह नहीं है कि जैसे ाँ ों का ल के ाथ बन्ध होता है वैसा सूर्य के साथ भी हो है। सूर्य मंडल खों में ा पड़ता है थवा आँख रीर बाहर निकल कर सूर्य मंडल में जा पहुँचती है ऐसा मझना न होगा और यह दोनों ही बातें प्रत्यक्ष से बाधित है। इस का अर्थ सिर्फ यह है कि अगर आंख पर जरा सा भी पर्दा पड़ा हो या ंख बन्द हो तो सूर्य नहीं दि गा। सूर्य का मंडल तभी दि ाई देगा जब आं ली हों और दोनों के बीच तिशय दूरी न हो तथा अन्य कोई बाधक आड़ न हो। इ प्रकार सूर्य-मंडल के दि ाई देने को ही यहां स्पर्श होना कहा है।

ाँ ों की श सूर्य ो दे ने जितनी नहीं है, न ाँ ों का इतना विषय ही है। ाँ ा विषय एक ला जन (कच्चा) कहा ज ा है यह भी सर्व ाधारण को प्राप्त नहीं। लब्धि री ही इतनी दूर की वस दे कता

है। तप इतने यें ो मे ी ाँ
। परन्‍ यें ोरोश ी से ऐ ा ी ा ा कि
ोटे ाटे ो भी दि ई प । ी ीं भी सूर्य
ही प्र डा ा ; तभी ाँ दे थे ी ।
न्यथा न ी इ पेचा में चक्षु ा स्प ा ।

ब त ोग पे जिन्हें स्वर्ग वि सन्देह ।
पर ा वि ा ई दे वा यें- ी
प्रमाण हों ? ब यें मं त्यक्त ो उ रहने
भी ोई होंगे ही । ा वै नि भी मं रे
सृष्टि त ाते हैं ार हते हैं। वहाँ रहने वा ो बातचीत
रने ा प्रयत्न ारी है। ऐसी अवस्था में स्वर्ग विषय
सन्दे कै किया ा ता ?

सि ांत ता है ि स्वर्ग विषय में दह रने
ी रत नहीं है। स्वर्ग वि य न्दे ा रण
हो ता था, ब हम ी बतलाकर उ का प्र ो न
देकर स्वर्ग पाने ा उपदे ते। न ि ांत प ा
त्व बत ाता ार इ ोक तथा पर ो संबंधी
िचा ा त्याग रने ा उपदे देता ।

बहुत ोग, नता ो ा दि ा कर धर्म ा
उपदे देते । ई ाई विना ी वा ो ी देकर,
वस्त्रही ो ोजन ि पा न ो उ भो
के में मि ाते हैं। ापि उन धर्मग्रंथ बाइ
ऐ ा रने ा नों ा ि ा दे र दूर रे ो
पने में ि ा, मगर उन धर्म गुरुओं ने पोपों ार

पादरियों ने यह चाल चलाई है कि लोभ देकर लोगों को अपने धर्म में मिला लिया जाय। जैन धर्म और जैन धु ऐसा कोई भी लोभ नहीं देते। ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि स्वर्ग न होते हुए भी जैन सिद्धांत ने स्वर्ग का अस्तित्व लाया है। जैन धर्म तो सब प्रकार के पारलौकिक सुखों की भी कामना न करने का विधान करता है। गीता भी यही हती है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

कर्त्तव्य करो, फल की कामना मत करो। इस प्रकार का उपदेश प्रलोभनों के ाग के लिए है, प्रलोभन के लिए नहीं। जैन शास्त्रों में लोभ दि ाने के उद्देश्य स्वर्ग का वर्णन नहीं किया गया है, बल्कि स्वर्ग का वर्णन करके यह दिखाया गया है कि-हे मनुष्यो! तुम अपने सुखों पर । गर्व करते हो! जरा र्ग की सम्पदा को भी देखो, कितनी अनुपम है। लेकिन तुम उसकी भी कामना मत करो। केवल आत्मा और परमात्मा में दाई करने वाले कर्मों को नष्ट करने की कामना करो। र्मों नाश होने पर ही तुम्हें स , पूर्ण और स्वाभाविक सुख प्र हो सकते हैं। अतएव स्वर्ग लोक का विधान कल्पित नहीं है और उसमें संदेह करने का कोई कारण भी नहीं है।

सूर्य को दे ने की जो बात कही गई है, वह सब जगह और ब समय के लिए एकसी नहीं है। शा कारों ने प्रत्येक मंडल से सूर्य के दि लाई देने का हि ब लग अलग दिया है। सूर्य जब मंड में होता है तब भरतक्षेत्र

वा ों ो ४७२६३ ये न दूर े दि ाई देता है। न्यान्य मंड े में ूर्य होता है, तब कितनी-कितनी दूर े दे ा ा कता है, इ ा वि द वर्णन जम्बूद्वीप प्रज्ञ े में दि गया है। जिज्ञा ों ो वहाँ दे ेना ाहिए।

गौतम स्वामी पूछते ैं—भगवन्! उग ा हु ा ूर्य ि तने लम्बे- ो, ँचे या गहरे क्षेत्र ो प्र ा ि त रता है, उद्योतित रता ै, तपाता है ौर खूब तपाता है, उसी तरह क्या बता हु ा सूर्य भी उतने ही लम्बे, ेै, गहरे ौर ँ े क्षेत्र ो प्र ाि रता है? उद्योतित रता है ाता ै ौर खूब तपाता है? थवा म-ज्यादा े त्र को? इ प्रश्न े उ में भगवान् ने र्माया—े गौतम! उगता सूर्य जितने क्षेत्र ो प्रकाशित ादि रता है, ने ही क्षेत्र ो बता हु ा सूर्य भी प्र ा ि त कर है, यहाँ तक कि खूब तपाता है। इ में न्तर नही ै।

ि र गौतम स्वामी पूछते हैं-भगवन्! सूर्य जि क्षेत्र ो प्र ा ि त रता है उ क्षेत्र को ् र े प्रकाशित रता है या बिना स्पर्श ि ये ही प्र ा ि त करता है? भगवान् र्माते है—े गौतम! उस े त्र ो हीं दि ा ों ो ् रके प्रका ि त रता ै। इ ी प्रकार ों दिशा ों ो स्प ् कर े ही उद् े ि त रता है, तपाता है ौर प्रभा ि त ै।

गौतम स ी फिर प्रश्न करते हैं—प्र े! ूर्य क्षेत्र ो ब स्पर्श ने गा, तब ' माणे ि ए' इ सिद्धा े ार स ् ि पे कहा ता हैं? ान् र्माते हैं, गौ पे ा ा जा है।

ैतम—भगवान् ! ् ` जय उस क्षेत्र को स्पर्श कर ही र है, ब क्षेत्र को स्प ै नहीं किया है, तब स्पर्श किया पे । कहा ज ?

भग न्— ाँ । गौतम, कहा जा कता है।

गौतम— प्रभो ! सूर्य स्पर्श किये हुए क्षेत्र का स्पर्श करता है, या स्पर्श न किये हुए क्षेत्रका स्पर्श करता है ?

भगवान्—गौतम ! स्पर्श किये हुए को स्पर्श करता है

इस प्रश्नो र में ओभासेई, उज्जोएइ, तवेइ, और पभासेई, यह चार क्रियापद आये हैं। इन चारों के अर्थ में क्या भेद है, यह दे ना चाहिए।

प्रातःका में पहले सूर्य की थोड़ी ी ललाई नजर आती है सूर्य । मंडल उ मय दिखाई नहीं देता है। सूर्य के उस प्रकाश ो व कहते हैं और उस समय प्रकाश करना अवभा त करना कहलाता है। सूबह और शाम को जिस प्रकाश में बड़ी बड़ी वस्तुएँ दी ती है, छोटी नहीं दी ती उ प्रक को उद्योत हते हैं। उस मय बड़ी वस ों का प्रका त होना उद्योतित होना कहलाता है। जब सूर्य ब त । कर है देदीप्यमान हो जा है तब उसके प्रका को प्रभा करते हैं ोर उस वस्तुओं का ा त होना प्रभा त होना कहला ै । सूर्य के प्रचंड प्रकाश से जो गर्मी फैलती है वह ताप कहलाता है और उ गर्मी को फैलाना सूर्य का तपन रना कहलाता है जहाँ शीत हे । है वहाँ सूर्य का प्र र प्रकाश पड़ने से गर्मी हो जाती है।

ानि ोंने यह ार िया है कि ई प्र ार ा ित पे ा कि दिय प ल त ठ रता । योंदय े मिट ा है। भी ेपे ा भी होता है ि र्दी प्राण ा रे हों उस मय गर योंदय हो ाय तो हुए ाण र ाते हैं।

जब शीत ि जाय और ोटी-बड़ी ी ीजें दि ाई देने गें, तब हा ता है ूर्य तप रहा है। इ ी ा नाम 'तपति' है। भले ही ूर्य मण्ड न दि पड़ता हो, परन्तु छोटी-छोटी चीजें अगर दि ाई देती हों, तब यह कहा जाता है ि सूर्य तप रहा है। तात्पर्य यह ै ि गर्मी प्रभाव से जब सूर्य र्दी को नष्ट र देता है तथा बारी ी वस्तुएं भी न र पड़ने ग हैं, तब ूर्य ा तपना हल ा है।

यह ूर्य ा ामान्य-वि ेष धर्म दि ाया गया है। ि न सूर्य कहाँ प्रकाश रता है, इस म्बन्ध में गौतम स्वामी ने क्षेत्र े लिए प्रश्न किया है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने ाया था-सूर्य, क्षेत्र को स्पर्श कर प्रका करता है, बिना प्रकाश किये नहीं। इ उत्तर पर यह जिज्ञा ा हो ती है कि सूर्य तो ऊपर है, ि र वह प्रका ित होने वाले त्र ा स्पर्श कि प्र ार करता है? इस ा माधान यह है ि सूर्य नी नहीं आता, यह त्य है, परन्तु उसकी ि रणें प्र तो नी ाता ही हैं। सूर्य, ि र ार प्रकाश, यह तीनों र्वथा भिन्न-भिन्न वस्तुएं नहीं हैं। गर सूर्य प्र ाशमय न होता तो

कौन उ` पहचानता ? सूर्य की किरणें और प्रकाश क्षेत्र का स्पर्श करते हैं, तएव सूर्य का स्पर्श करना स्वतः सिद्ध हो जाता है। प्रकाश सूर्य का ही अंग है।

उ` खित प्रश्नोत्तरों के अंत में जो उत्तर दिया गया है, उसमें 'जावनियमा छद्दिसिं' ऐसा पाठ आया है। इस में 'जाव' शब्द ` जिस पाठ का संग्रह किया गया है, वह इस प्रकार हैः—

उत्तर—गोयमा! पुट्ठं ओभासेइ, नो अपुट्ठं।

श्न—तं भंते! ओगाढं ओभासेइ, अणोगाढं ओभासेइ ?

उत्तर—गोयमा! ओगाढं ओभासेइ, नो अणोगाढं। एवं अणंतरेगाढं ओभासेइ, नो परंपरोगाढं।

प्रश्न—तं भंते! किं अणुं ओभासेइ, बायरं ओभासेइ ?

उत्तर—गोयमा! अणुं पि ओभासेइ, बायरं पि ओभासेइ।

प्रश्न—तं भंते! उड्ढं ओभासेइ, तिरियं ओभासेइ, अहे ओभासेइ।

उत्तर–गो मा ! उ ढं ि ३

श्न–तं भंते ! इं ओ भासइ, उम्भे ओ भासइ, ओभ स

उत्तर–गोयम ! इं ३ ।

न–तं भंते ! स वि ए ओभासे ; वि-सए ओ भ से ?

उत्तर–गोयमा ! सविस ोभा , ो अविसए ।

श्न–तं भंते ! अ विं ोभास , अणाणु-व्विं ओभासेइ ?

उ र–गोय ! आणु व्विं ओभासेइ, ने णाणुपुव्विं ?

श्न–तं भंते ! दिसं ोभासेइ ?

र–गोयम ! नियम छद्दिसं ।

इस पाठ में अवगाहन आदि के विषय में विचार किया गया है । गौतम स्वामी पूछते हैं—प्रभो ! सूर्य स्पर्श करता है तो अवगाहन भी करता है ?

भगवान् ने फ़र्माया—हाँ गौतम ! अवगाहन भी करता है।

स्पर्श और अवगाहनमें अन्तर है। ऊपरसे संयोग हो जाना मिल जाना स्पर्श होना कहलाता है आर दूध में मिश्री की तरह एकमेक हो जाना अवगाहन कहलाता है।

चाहे कोई मनुष्य पृथ्वी के नीचे सात भौंयरों रहे र वहां सूर्य की किरणे न पहुँच पावे, तब भी सूर्योदय होने उस स्थान की रचना बदली हुई ही मालूम होगी। इसके लिए एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है। किसी राजाने कुछ आदमियों को अंधेरे भोयरों मे डाल दिया। फिर उन लोगों से पूछा गया—बताओ, अभी दिन है या रात है ? उनमें से एकने कहा—इस समय दिन है। राजाने कहा—तुझे कैसे मालूम हुआ कि इस समय दिन है ? उसने उत्तर दिया—मुझे रतौंध आती है। यद्यपि यहां अँधेरे मे कुछ दिखाई नहीं देता किन्तु मेरी आंखो में ज्योति तो आगई है।

गौतम स्वामी कहते हैं—भगवान्। सूर्य ! अनन्तर अवगाहन करता है या परम्परावगाहन ? अवगाहन मे अन्तर न रहना अनन्तर अवगाहन कहलाता है र एक छोड़कर दूसरे को अवगाहन करना परम्परा अवगाहन करना कहलाता है।

भगवान्ने उतर दिया—गौतम ! अनन्तर अवगाहन करता है।

स्वामी—भगवान् ! सूर्य बारीक चीज़ को प्रकाशित क है बड़ी चीज़ को ?

– अणु और बादर अर्थात् छोटी-मोटी सभी चीजो को प्रकाशित करता है।

गौतम—भगवान ! सूर्य ऊँचा प्रकाश करता है, नीचा प्रकाश करता है या तिर्छा प्रकाश करता है ?

भगवान्—गौतम ! तीनों दिशाओं मे प्रकाश करता है।

ऊँचे, नीचे और तिर्छे में भी आदि, मध्य और न्त यह तीन भेद हो जाते हैं। अतएव गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवान ! सूर्य आदि में प्रकाश करता है, अन्त मे प्रकाश करता है या मध्य में प्रकाश करता है ?

भगवान्—गौतम ! आदि में भी, अन्त में भी और मध्य में भी प्रकाश करता है। सूर्य के फैलने की जितनी मर्यादा है, उसे सूर्य का विषय कहते हैं। गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—प्रभो ! सूर्य अपनी मर्यादा में प्रकाश करता है या मर्यादा से वहार ?

भगवान्—हे गौतम ! मर्यादा में प्रकाश करता है, बाहर नहीं।

गौतम—भगवान् ! सूर्य क्रमसे प्रकाश करता है या अक्रम से ?

भगवान्—गौतम ! सूर्य क्रम से प्रकाश करता है।

गौतम—भगवान् ! सूर्य कितनी दिशाओं मे प्रका करता है ?

भमवान्—गौतम ! नियम से छहों दिशाओं में प्रकाश करता है ?

इन पदों की व्याख्या टीकाकारों ने प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक में स्पष्ट रूप से की है। वही व्याख्या यहां भी समझ लेना चाहिए।

यहां गौतम मी ने यह प्रश्न , था कि सूर्य जिस क्षेत्र स्पर्श कर रहा है उसे 'स्पर्श किया' ऐसा कहा जाता है ? जैसे वस्त्र एक-एक तार भिन्न-भिन्न समय में टूटता है, फिर भी फटते हुए को 'चलमाणे चलिए' इस सिद्धांत के अनुसार 'फटा' कहते हैं इसी प्रकार सूर्य एक क्षेत्र को कई समयों मे स्पर्श करता है, लेकिन पहले समय में उसने जितने त्रका स्पर्श किया, उतने त्र की अपेक्षा कहा जायगा कि-सूर्य ने क्षेत्र का स्पर्श किया। इस सम्बन्ध में 'चलमाणे चलिए' इस प्रश्नोतर में विशेष रूपसे विचार कि । है।

इस प्रश्नोत्तर में वर्त्तमान और भविष्य की बात भूतकाल मे दा की गई है। यानी यह माना गया है कि काम समाप्त आ नहीं है, लेकिन जैसे ही उसका प्रारम्भ हुआ, वैसे ही वह समाप्त मान या जायगा। यों साधारण रूपसे तो यह मालूम होता है कि भविष्य कालीन बात भूतकाल में किस प्रकार कही जा सकती है ? मगर ऐसा किये बिना म नहीं चल सकता। नी-जन कहते है-हम तो भविष्य को भूत में भी व्यवहार करते हैं, लेकिन आप ऐसा नही करेंगे तो क्या कहेंगे ? कल्पना कीजिए-एक आदमी बम्बई जाने के लिए घर से निकला। वह अभी बम्बई नही पहुँचा-रा मे ही है, दूसरे आदमी ने आकर उसके विषय में पूछा--अमुक आदमी कहां है ? उसके सम्बन्ध मे क्या उत्तर दिया जायगा ? क्या यही नह कहा जायगा कि वह बम्बई गया है ? वह बम्बई पहुँचा नहीं है, भी भविष्य की बात को भूतकाल मे दाखिल करके ही यह व्यवहार होता है।

कहा जा है कि यह तो लोक व्यवहार की बात है। सांसारिक जन व्यवहार करें; मगर ज्ञानियों को तो समझ-बूझ कर ही बोलना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि ज्ञानी जन बिना सोचे-समझे नहीं बोलते। जो व्यक्ति बंबई का फासला जितने क़दम रहा है। वह उतने ही अंशों में बम्बई पहुँचा है। कदाचित् यह कहा जाय कि एक रास्ता कई जगह के लिए जाता है, ऐसी स्थिति यह कैसे कहा जाय कि वह रास्ता चलने वाला बम्बई है? इसका उत्तर यह है कि एक रास्ता चाहे चार जगह के लिये जावे, किन प्रश्न तो यह है कि जाने वाले ने कहां जाना निश्चय कि है और वह कहां जा रहा है? एक रास्ता बम्बई भी जाता हो र पूना भी जाता हो, भी बम्बई जाने वाला बम्बई का और पूना जाने वाला पूने का रास्ता कहेगा।

जाने वाले ने पहले से ही च्य निर्धारित न कर लिया होगा वह . . में पड़ जाएगा और कहीं का कहीं मारा-मारा फिरेगा।

इतने पर यह कहा जाय कि जाने वाला अभी जा रहा है—बम्बई पहुँचा नहीं है, : भविष्य काल का प्रयोग करना चाहिए; तो जितना च है, वह चलना निरर्थक हो जायगा। एवं लोक-संगत ऐसा व्यवहार करने में कोई बाधा नहीं है।

गौतम मी पूछते हैं—भगवन्! जिस क्षेत्र को सूर्य की किरणें स्पर्श करने लगी, उस क्षेत्र के सम्बन्ध में 'स्पर्श किया' ऐसा कहा जा है? भगवान् ने फरमाया—गौतम! हां, ऐसा कहा जा है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! सूर्य स्पर्श किये हुए क्षेत्र स्पर्श करता है या बिना क्षेत्र का स्पर्श करता है ?

लोक व्यवहार में बिना स्पर्श को भी 'स्पर्श किया' कहते हैं; जैसे पड़ौसी के सम्बन्ध में कहा जाता है-यह हमारे सम्बन्धी हैं-पास ही रहते है; आदि। तात्पर्य यह कि हाथ से हाथ मिलाने के समान स्पर्श न करने पर भी स्पर्श किया कहते हैं; लेकिन यहां वास्तव में स्पर्श किये हुए को ही स्पर्श करना कहा गया है।

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने यह दिया है कि सूर्य स्पृष्ट को ही स्पर्श करता है—अस्पृष्ट को नहीं।



` न्त पर्शना

श्न— `यं` भंते ! अ ोयंतं फुस ,
ोयंते वि ोयंतं फुस ?

उत्तर—हंता, गोय । । ोयंते अ ोयंतं फुसइ, अलोयंतेवि ोयंतं फुसइ ?

श्न—तं भंते ! किं पुट्ठं फुसइ, अपुट्ठं फुसइ ।

उत्तर—ज व–नियमा छाद्दिसिं फुसइ ।

श्न—दीवंते भंते ! ागरं ुसई, ाग-
रं ` ` दं ` ` फुसइ ?

उत्तर—हंता, जाव–निय ाछाद्दिसिं फुसइ ।

प्रश्न एवं एएणं भिलावेणं उदंते पोयंतं फु इ, छि न्ते दूसंतं, छायंते आयवंतं ?

उत्तर—जाव–निय छाद्दिसिं फुसइ ।

सं —छाया—प्रश्न—लोकान्तो भगवन् ! अलोकान्तं स्पृशति ? अलोकान्तोऽपि लोकान्तं स्पृशति ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! लोकान्तोऽलोकान्तं स्पृशति, अलोकान्तोऽपि लोकान्त स्पृशति ।

प्रश्न—तद् भगवन् ! किं स्पृष्ट स्पृशति ? अस्पृष्टं स्पृशति ?

उत्तर—यावत्--नियमात् षट्दिशं स्पृशति ।

प्रश्न—द्वीपान्तो भगवन् ! सागरान्तं स्पृशति ? सागरान्तोऽपि द्वीपान्तं स्पृशति ?

उत्तर—हन्त, यावत्--नियमात् षट्दिशं स्पृशति ।

प्रश्न एवमेतेनाभिलापेन-उदकान्तः पोतान्तं स्पृशति ? छिद्रान्तो दूष्यातं, छायान्त आतपान्तम् ?

उत्तर—नियमात् षड्दिशं स्पृशति ।

[illegible]दा—

- [illegible] वन् ! [illegible] ([illegible] नारा) अलोक [illegible] न्त [illegible] स्प[illegible] र [illegible] ? [illegible]र [illegible] अन्त लोक [illegible] अन्त [illegible] स्पर्श [illegible] रता [illegible] ?

उत्तर— [illegible]त ! हाँ, [illegible] अन्त अलो[illegible] के अन्त [illegible] र [illegible] न्त [illegible] न्त [illegible] स्पर्श [illegible] ।

भगवन् ! [illegible] ,
[illegible] ?

[illegible] ! [illegible] वत्-नि [illegible] दिशाओं
[illegible]

[illegible] — [illegible] वन् ! द्वी [illegible] न्त ([illegible]) [illegible]
[illegible] ? [illegible] अन्त
[illegible] को [illegible] ?

उत्तर— [illegible] , [illegible] त्--नि [illegible] हों दिशा [illegible]
स्प [illegible]

— [illegible] र, [illegible] भिलाप --इन्हीं शब्दों
[illegible] पो (नौ [illegible] ज) [illegible] रे [illegible]
[illegible] ? छेद [illegible] स्पर्श
[illegible] ? [illegible] र [illegible] या [illegible] प [illegible] रे [illegible]
[illegible] ?

[illegible] — [illegible] ! [illegible] वत्-[illegible] पूर्व [illegible] हों दि [illegible]
[illegible]

व्याख्या

गौतम [illegible] पूछते हैं—भगवन् ! क्या लोक के अन्त ने अलोक के अन्तको [illegible] र अलोक के अन्त ने लोक के अन्त को स्पर्श कर रक्खा है ? इस प्रश्न का भगवान् ने यह उत्तर दिया—हे गौतम हां स्पर्श कर रक्खा है। तब प्रश्न किया गया—कितनी

दिशाओं में स्पर्श किया है ? भगवान् ने उत्तर दिया--छहों दिशाओं में स्पर्श किया है।

बहुत से लोग, लोक और अलोक की परिभाषा भी शायद न जानते हों। लोक और अलोक द्वारा बाह्य सृष्टि का ही विचार नहीं किया जाता, किन्तु आत्मिक विचार भी उसमें सन्निहित है। जैसे नारियल का गोला और उसके चारों ओर का आवरण अलग अलग हैं, तथा एक से दूसरा आच्छादित है उसी प्रकार लोक और अलोक भी है विस्तृत—असीम अलोक है और उसके बीच मे लोक है। लोक और अलोक के परिभाषिक शब्द अन्य शास्त्रो में भी पाये जाते हैं। कोई चौदह तबक (स्तवक) कहता है। लेकिन उनसे अगर यह पूछा जाय कि लोक और अलोक की सीमा किस प्रकार निश्चित की गई है, तो इसका उत्तर जितनी स्पष्टता से जैन शास्त्रों मे मिलेगा अन्यत्र, कहीं नहीं मिल सकता। यह बात जैनधर्म के प्रति अनुराग होने के कारण ही मै नहीं कहता हूँ, किन्तु वास्तविक है लोक और अलोक की सीमा कोई बतलावे, फिर भी अगर मै न मानूं तो पक्षपात कहा जा सकता है।

जैन शा   का कथन है कि जैसे जल और स्थल की सीमा है, वैसी ही लोक और अलोक की भी है। जहां स्थल भाग माना जाता है और जहां जलभाग न हो वहां स्थल भाग माना जाता है, इसी प्रकार की बात लोक और अलोक के विषय मे भी है।

यूरोप के वैज्ञानिक इस बात को मानने लगे है कि जीव और जड़ पदार्थ मे जो गति होती है, वह आप ही आप नहीं होती।

न जीव आप ही अकेला गति कर सकता है, न जड़ पदार्थ ही। किन्तु किसी भिन्न पदार्थ की सहायता ` ही गति होती है,। देखना यह है कि गति मे सहायता देने वाला वह पदार्थ कौनसा है ?

धर्मास्तिकाय नामक पदार्थ जल के समान है। वह जहां है वहांतक उतना आकाश लोग कह है और जिस में वह नहीं है, वह अलोक कहला है। यह प्रश्न हो सकता है कि धर्मास्तिकाय का हमे किस प्रकार पता चल सकता है ? वह इतना सूक्ष्म है कि दृष्टि गोचर नहीं होता; लेकिन जैसे मछली पानी की सहायता से गति करती है, पानी की सहायता के बिना गति नहीं कर सकती, इसी प्रकार जीव और अन्य गति शील जड़ पदार्थ (पुद्गल) धर्मास्तिकाय की सहायता से ही गति करते हैं, इसकी सहायता के अभाव में गति नही कर सकते।

ंगर ` और अलोक की सीमा करने वाला कोई पदार्थ न हो ` लोक के पदार्थ अलोक मे-अनन्त आकाश में चले जाते ` फिर उनका मिलना असंभव हो जाता। इ लिए लोक और अलोक की सीमा माननी पड़ेगी और साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि लोक में ऐसी कोई शक्ति है, जो लोकके पदार्थों को लोक में ही रखती है। उसी शक्ति को जैन शा धर्मास्तिकाय कहते हैं। इस धर्मास्तिकाय की श से ही जीवादि पदार्थ गति करते हैं, लेकिन- की गति वही तक सीमित है, जहां तक धर्मास्तिकाय है। धर्मास्तिकाय के अभाव में गति भी रुक जाती है। इसी कारण जीवादि पदार्थ लोक से बहार-अलोक में नहीं

जाने पाते। तात्पर्य यह है कि जिस आकाश खंड में धर्मास्तिकाय हैं, वह लोक कहलाता है और जिसमें धर्मास्तिकाय नहीं है उसे अलोक कहते हैं।

विश्व मे, गति करने वाले पदार्थ दो ही हैं--पुद्गल और जीव। यह दोनो पदार्थ लोक में ही है, अलोक मे नही हैं। लोक में धर्मास्तिकाय की विद्यमानता के कारण ही उनमें गति होती है।

संस्कृतभाषा मे लोक शब्द की व्युत्पत्ति है--लोक्यते, इति लोकः। अर्थात् जो देखा जाय उसे लोक कहते हैं और इसके विरुद्ध, जो न देखा जाय वह अलोक कहलाता है।

इस व्युत्पत्ति पर ध्यान देने से यह शंका उपस्थित होती है कि लोक का एक नियत परिमाण नही हो सकता। जिसे जितना दिखाई दे, उसके लिए उतना ही लोक होना चाहिए, अर्थात् जो आदमी एक कोस दे सकता है, उसके लिए एक कोस का लोक हुआ आर जो ज्यादा देखता है, उसके लिए ज्यादा लोक हुआ ? इसका समाधान यह है कि जिसे पूर्ण ज्ञानी देखे वह लोक है। तव यह प्रश्न किया जा सकता है कि पूर्ण ज्ञानी अलोक को देखते हैं या नही ? अगर नही देखते तो उनके दर्शन--ज्ञान मे न्यूनता माननी पड़ेगी और शास्त्रो मे पाया जाने वाला अलोक का वर्णन निराधार ठहरेगा। अगर पूर्णज्ञानी अलोक को भी देखते है तो अलोक भी लोक हो गया ? तव लोक की ठीक परिभाषा कैसे वनती है ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि पूर्ण ज्ञानियों ने जिस आकाशखंड को धर्मास्तिकाय से युक्त देखा है, वह लोक कहलाता है। जैसे-जिस जगह जल देखा उसे जलभाग कहा और जहाँ - भाग न दे । उसे स्थलभाग कहा। अर्थात्--जहाँ जल नहीं दे । तो उसे स्थल नाम दे दिया गया है। इसी प्रकार पूर्ण ज्ञानियोने अपने ज्ञान में, अलोक में धर्मास्तिकाय नहीं देखा, इसलिए उस स्थल को अलोक नाम दे दिया है। जहाँ धर्मास्तिकाय देखा, उस आकाशखंड को लोक संज्ञा दी है।

धर्मास्तिकाय के अतिरिक्त एक पदार्थ और है, जिसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं। धर्मास्तिकाय गति में सहायक है और अधर्मा- ि काय स्थिति मे सहायक है। आप भूमि पर ठहरे है, पर आपके ठहरने में अधर्मास्तिकाय की सहायता है।

आकाश भी एक पदार्थ है। वह आधार रूप क्षेत्र है। वह लोक मे भी है और अलोक में भी है। लेकिन जिस आकाश के साथ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाव, जीव आर पुद्गल (रूपी जड़), यह चारों अस्तिकाय होते हैं, उसे लोक आर जिसमे यह चारों नहीं हैं, जहाँ केवल आकाश ही आकाश है, वह अलोक है। तात्पर्य यह कि ज्ञानियों ने आकाश सहित पाँचों अस्तिकाय जहाँ विद्यमान देखे उसे लोक-सं । दी गई आर जहाँ केवल आकाश देखा उस भाग को अलोक संज्ञा दी गई । यही लोक आर अलोक की मर्यादा है।

गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि क्या लोक और अलोक की सीमा मिली हुई है ? और अलोक की सीमा लोक से मिली

है ? या दोनों में कुछ अन्तर है इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है—हे गौतम ! दोनो का अन्त एक-दूसरे का स्पर्श करता है। अगर ऐसा न माना जायगा तो दोनों के बीच में जो पोल रह जायगी, उसे लोक और अलोक के अतिरिक्त तीसरी संज्ञा देनी पड़ेगी। मगर ऐसा हो नहीं सकता। क्यों कि या तो पोलमें धर्मास्तिकाय का सद्भाव होगा या असद्भाव होगा। र सद्भाव माना जाय तो उसे लोक कहना होगा। अगर अभाव माना जाय तो अलोक कहना पड़ेगा। फिर दोनो ही अवस्थाओं में लोक और अलोक की सीमा मिल जायगी।

अगर यह कहा जाय कि लोक और अलोक के बीच की पोल मे धर्मास्तिकाय आदि का न सद्भाव है, न असद्भाव है; तो यह कथन परस्पर विरोधी है। सद्भाव न होना ही असद्भाव है और दभाव न होना ही सद्भाव है। परस्पर विरोधी दो विक को छोड़कर तीसरा विकल्प होना असंभव है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! लोक का अन्त, अलोक के अन्त से और अलोक का अन्त लोक के अन्त से, छहों दिशाओं से स्पृष्ट है या किसी एक ही दिशा से ?

भगवान् फर्माते हैं—छहों दिशाओं से स्पृष्ट है।

यहां एक प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। वह यह है धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल की ग में सहायक होता है, परन्तु वह स्वयं गति करता है या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि

वह ' नहीं । जैसे तालाव में भरा हुआ ज़ल स्थिर है— पवन लगने से हिलोरें उठना दूसरी बात है, अन्यथा वह गति नहीं करता, इसी प्रकार धर्मास्तिकाय, समस्त लोक में भरा है और वह गति नहीं करता ।

अव यह भी देखना है कि लोक और अलोक की व्याख्या करने से क्या लाभ है ? वैज्ञानिकों ने 'ईश्वर' नामक गति सहायक पदार्थ का पता लगाया । इसमें उन्हें क्या लाभ ह ? इसका उत्तार वैज्ञानिक ही ठीक-ठीक दे सकते हैं । इसी प्रकार लोक और अलोक को जानकर उसका निरूपण करने मे ज्ञानियों ने क्या भ देखा है, यह बात ानी ी भली भांति बता सकते हैं ।

लोक, अलोक, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आदि पदार्थों का पता लगाने वाले पूर्ण पुरुष थे । ईश्वर का आविष्कार तो कुछ ही पहले आ, पर धर्मास्तिकाय का आविष्कार हुए, कौन जानेकितना काल ो गया है ! यह सास्वत पदार्थ है न आविष्कार होता न विनाश व है ।

एक सुन्दर आम सामने आने पर लोग सहज ही यह कल्पना करने लगते " कि जिस बागमें यह आम है. वह बाग और आमका वृक्ष कैसा होगा ! आम—फल देखकर उसके वृ को मानना ही पड़ता है उसे न मानने वाला अनाड़ी कहलाता है । इसी प्रकार जिन ानियों ने धर्मास्तिकाय आदि का पता लगाकर हमें । है, उन्होंने किन आत्म—भावनाओं को प्रकट क पता लगाया होगा ?

उन महात्माओं ने आत्म--भावना जागृत करके, आत्म-ज्योति प्रकटा करके, जिन बातों का पता लगाया है, उन्हें जानकर हमें क्या करना चाहिए ? हमे इस बात का विचार करना चाहिए कि हम किसी बात का पता अपनी बौद्धिक शक्ति से चाहे लगा ले, तब अगर आत्म-शुद्धि न हुई तो कल्याण कैसे होगा ? अतएव सब से पहले हमें आत्म-शुद्धि की आवश्यकता हैं। चित्त को निर्मल बनाना ही सब धर्मों का सार है। हृदय की पवित्रता प्राप्त करना ही धर्म है। चित्तावृत्ति शुरू होने पर अनायास ही प्रत्येक बात समझ में आजाती है। आज जिन सुखों की कामना से तुम निर-भर काबुल रहते ही हृदय शुद्ध होने पर उतारते भी कही उब्वनर सुखकी तुम्हे प्राप्त होगी। इस अतिवर्तनीय सुख के सामने तुम्हारे सम्मु किसी गिनती मे न रहेगे।

चित्रशुद्धि का अर्थ है, विकारो को जीतना। विकार संक्षेप मे दो हैं—राग और द्वेप। किंचित विस्तार से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरता और अहंकार को विकार कह सकता है। काम, क्रोध आदि विकारो को जीत लेना प्रत्येक आत्मा का कर्तव्य हैं, क्योंकि यही विजय लोकोत्तर आनन्द करने का साधन है। इससे आत्मा विशुद्ध चिद्रूप होकर आन्दमय बनजाता है। अत एव लोकालोक का स्वरूप जानकर आत्मा की शुद्धि के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन् सागर का अन्त, दीप के अन्त से और द्वीप का अन्त सागर के अंत से मिला

आ है ? अर्थात् दोनों के अंत एक दूसरे के अंत का स्पर्श करते हैं ? जसे जम्बूद्वीप का अंत लवण समुद्र से और लवणसमुद्र जम्बूद्वीप के अंत से मिला हुआ है, उसी प्रकार सब द्वीप—समुद्रों की स्पर्शना है ? इसके उत्तर में भगवान् ने फ़र्माया—ौतम ! हाँ, द्वीप का अन्त समुद्र का अन्त द्वीप के अन्त को स्पर्श करता है। और वह हों दिशाओं से स्पर्श करता है।

यहां यह प्रश्न होता है कि इसका अन्त सागरके अन्तको और सागर का अन्त द्वीप के अन्त को छहों दिशाओं कैसे स्पर्शकरना है ? इसका उत्तर यह है कि द्वीप और समुद्र को हम लोग जिस प्रकार देखते हैं, उससे शा य दृष्टि भिन्न प्रकार की है। शा में जम्बूद्वीप का लगभग एक हजार योजन गहरे से बतलाया गया है और समुद्र का तलभाग भी इतना ही गहरे से है। अतएव द्वीपों और समुद्रों का अन्त एक-दूसरे से नीचे भी स्पर्श करता है, बीच में भी स्पर्श करता है और ऊपर भी स्पर्श करता है।

यों तो मेरुपर्वत से दिशाओं की कल्पना की गई है। परन्तु यहां द्वीप और समुद्र के हिसाब से भी दिशा ली गई है। यानी मेरुपर्वत के हिसाब से सब जगह दिशा नहीं ली जा सकती, इसलिए वस्तु के हिसाब से भी दिशा का व्यवहार होता है।

यहां पर कहा जा सकता है कि शास्त्रकारों ने तो केवल यही कहा है कि समुद्र और द्वीप का छहों दिशाओं से स्पर्श होता है; दिशा सुमेरु से लेना या वस्तु के हिसाब से, इस सम्बन्ध में कुछभी नहीं कहा है। ऐसी अवस्था में वस्तु की अपेक्षा दिशा का

व्यवहार होता है; यह बात कैसे फलित होती है ! इसका समाधान यह है कि इसी प्रश्नोत्तर से यह बात फलित होता है। गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा है कि नाव का अन्त और जल का अन्त आपस मे स्पर्श करते हैं ? भगवान् ने उत्तर दिया " हां, स्पर्श करते है। फिर गौतम स्वामी पूछते है—भगवन् ! कितनी दिशाओं मे स्पर्श करते हैं ? भगवान ने फर्माया—गोतम छहों दिशाओं मे। इस प्रश्नोत्तर मे नौका की दिशा से जल ह और जल की दिशा से नौका है। यहां वस्तु की अपेक्षा ही दिशा का व्यवहार फलित होती है।

समुद्र मे जहाज और नदी मे नौका कोई दे ता है, कोई नहीं देखता। अर्थात् किसी को देखने का मौका नहीं मिलता। इसलिए गौतम स्वामी अत्यन्त सन्निकट की वस्तुओ को लेकर प्रश्न करते हैं—भगवन् ! कपड़े का अन्त छिद्र को और छिद्र का अन्त कपड़े को स्पर्श करता है—भगवान उत्तर देते "—गौतम ! हां स्पर्श करता है। जब गौतम ने पूछा—प्रभो एक दिशा में स्पर्श करता है या छहों दिशाओ मे ? तब भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम छहों दिशाओ मे।

यहां टीकाकार ने कहा है कि जैसे एक कम्बल की तह कर `` पर वह कम्बल लम्बा-चौड़ा और मोटा हो जाता है। उस कम्बल मे कोई कीड़ा ऊपर से नीचे तक छेद कर दे तो उस छेद और कम्बल में छहों दिशाओं से स्पर्श होगा। प्रत्येक बात, जिस अपेक्षा से कही जाती है, उसी अपेक्षा से समझी जाय

ठीक तरह समझ में आ सकती है। शास्त्रकार एक जगह तो मेरु की अपेक्षा से दिशा बतलाते हैं और एक जगह वस्तु की अपेक्षा से आकाश प्रदेश ऊँचा, एक नीचा और तिर्छा होने पर हो दिशाएँ स्प करती हैं।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! धूप का अन्त छाया के अन्त से र छाया का अन्त धूप के अन्त से मिला है? अर्थात स्पर्श करता है?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! हाँ, स्पर्श करता है। गौतम मी पूछते हैं—भगवन्! एक दिशा स्पर्श करता है छहों दिशाओं से? भगवान् फर्माते हैं—छहों दिशाओं।

प्रश्न हो सकता है कि धूप में मोटाई नहीं होती, फिर छहों दिशाओं में स्पर्श होना किस दृष्टि से कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि—कल्पना कीजिए, एक पक्षी आका मे . रहा है और की या नीचे पड़ रही है। यह छाया अपे त ऊँची, नीची और तिर्छी है। अतएव वह छहो दि ओं में धूप के अन्त से स्पर्श करती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए टीकाकार ने उदाहरण और दिया है। वह कहते हैं—मान लीजिए, एक ऊँचा महल है उसकी या ढलती हुई गिर रही है। वह धूप के अन्त से ऊँची दिशा में भी स्पर्श करती है, नीची दिशा में भी स्पर्श करती है और ति र्छी दिशा में भी स्प करती है। मतलब यह है कि आप छाया की मोटाई नहीं देख सकते, मगर स्त्रकार उसे असंख्यात प्रदे की कहते हैं। उन असंख्यात प्रदेशों में कई

प्रदेश ऊँचे हैं, कई नीचे हैं और कई तिर्छे हैं। इस प्रकार छाया को धूप और धूप को छाया छहों दिशाओं में स्पर्श करती है।

फिर वही प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर इस प्रकार के प्रश्नोत्तरो से लाभ क्या है ? इनसे कौन-से महत्वपूर्ण तत्त्व पर प्रकाश पड़ता है ? इस का उत्तर यह है कि शास्त्रकार एक अंश तो स्पष्ट बतलाते है और दूसरा अंश हेतु से बतलाते है। लोक और अलोक के अन्त का स्पर्श बतलाने के समय यह प्रश्न नही हुआ कि गौतमस्वामी यह प्रश्न क्यो पूछते है ? केवल धूप और छाया के प्रश्न के समय यह प्रश्न क्यों हुआ इसी लिए कि लोक और अलोक का अन्त दिखाई नहीं देता और धूप तथा छाया दिखाई देती है। मगर लोक और अलोक के अन्त आपसमे किस प्रकार स्पृष्ट हैं, यह बात स्पष्ट रूपसे समझाने के लिए ही द्वीप-समुद्र, जल-जलयान, वस्त्र-ि द्र और धूप-छाया के उदाहरण दिये गये हैं। इन सब उदाहरणों द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि जैसे द्वीप-समुद्र आदि के अंत आपसमे एक दूसरे का स्पर्श करते है, उसी प्रकार लोक और अलोक का अन्त आपस मे स्पर्श करता है। इन्हे दे कर लोक और अलोक के अन्तके स्पर्श का अनुमान करो, यह इन उदाहरणो द्वारा सूचित किया गया है। जिसने द्वीप और समुद्र नहीं देखा है, वह भी एवं छिद्र देखकर यह अनुमान कर सकता है कि जिस प्रकार वस्त्र और छिद्र का अन्त है, इसी प्रकार पृथ्वी का भी कहीं न कहीं अन्त होगा ही। और जहाँ पृथ्वी का किनारा आएगा वहीं जल होगा । तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षगम्य वस्तुओ का उदाहरण देकर परोक्ष पदार्थों का

ान कराया गया है। परोक्ष वस्तु ठीक तरह समझ में आ जाए, यही इन प्रश्नोत्तरों का प्रयोजन है।

शिष्य विविध प्रकार के होते हैं। कोई-कोई तीव्र बुद्धि वाले ाधारण संकेत से वस्तु का तत्त्व समझ लेते है और कोई मन्द वुद्धि विस्तार पूर्वक समझाने से ही समझते हैं। शास्त्रकार सभी पर अनुग्रहशील होते हैं। इसलिए सभी की समझ में आ जाए, इस विचार से उन्होंने और भी अनेक दृष्टान्त दिये हैं; जैसे धूप और छाया का, वस्त्र और छिद्र का, जहां धूप आएगी वहां छाया का अन्त होगा और जहां छाया आयगी वहां धूप का अन्त होगा।

कदाचित् यह कहा जाय कि लोक और अलोक को समझाने से क्या मतलव है ? जव लोक और अलोक की घात ही निरर्थक है तो उसके लिए दृष्टान्तों की निरर्थकता आप ही सिद्ध हो जाती है। इस सम्वन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि हम लोग जहां रहते हैं, उस स्थान को संकुचित दृष्टि से क्यों देखे ? जव मारवाड़ का रहने वाला कोई व्यक्ति मारवाड़ से वाहर जाता है। तव वह अपना निवास स्थान मारवाड़ वतलाता है। अगर वह यूरोप मे जाता है तो भारत को अपना निवास-स्थान कहता है या अपने आपको एशिया-वासी कहता है। इस प्रकार वह अपने निवास-स्थान को जव इतना व्यापक रूप दे देता है तो भगवान अगर ारे लोक को ही जीवो का निवास--स्थान मान कर उसका विवरण देते हैं तो वह निरर्थक कैसे कहा जा सकता है ? आखिर-कार आप लोक में ही तो रहते हैं।

अब अगर आप से कोई पूछे कि लोक तीन है, क्या आप तीनों लोकों में रहते हैं? आप उत्तर देंगे—तिर्छे लोक में। फिर आप से कहा जाय—तिर्छे लोक में तो असंख्यात द्वीप है, क्या आप सभी द्वीपों में रहते हैं? तब आप उत्तर देंगे—जम्बूद्वीप में। इस प्रकार संकीर्णता की ओर बढ़ते-बढ़ते आप अन्त में यह कहेंगे कि आत्मा तो ज्ञान, दर्शन; चरित्र आदि रूप अपने स्वभाव में रहता है, अन्यत्र नहीं। अर्थात् यह मानना पड़ेगा कि आत्मा शरीर में भी नहीं रहता है। इस प्रकार विभिन्न नय विवक्षाओं से व्यवहार होता है। यह सब बातें ज्ञानियो की करने आती है।



चार

श्न– त्थि णं भंते ! जी णाइ-
वाए णं रिय कज्जइ

उत्तर– त्थि ।

प्रश्न– भं ! । ज्ज

पुट्ठा ज्जइ .

र–ज व्वाय णं द्दे , वाघायं
पडुच्चासिय दिं, चउ , सिय
पंचदिं ।

–स भंते ! कज्ज ,

कज्ज

त्तर–गोयम ! ज्जइ, अ

कज्ज

प्रश्न-सा भंते ! किं अत्तकडा कज्जइ ? पर । ज्ज ? तदुभयकडा ज्जइ ?

उत्तर- ोय । ! अत्त । ज्ज , णो पर कज्ज , णो तदुभय । कज्ज ।

श्न- । भंते ! ि ाणु ि । ज्ज ? णाणुपुव्वि । ज्ज ?

उत्त - ोय । ! । ्विं डा ज्ज णो णाणु व्वि डा कज्ज । जायक । ज्जइ, जाय कज्जिस , व्वा । श्र्या - ठि कडा, णो णाणुपुव्वि ि व्वं ि या ।

श्न- रि णं भंते ! ेरइयाणं पाणाइ- वा ि रि । ज्ज ?

र- । . त्थि ।

श्न- । भंते ! किं पुट्ठा ज्जइ ? पुट्ठा कज्ज ?

उत्तर–जाव नियमा छिद्दिसिं ज्ज ।

प्रश्न– भंते ! ज्ज , ठ ज़्जइ ?

उत्तर–तं चेव जाव--णो अणाणुपुव्विं ० सि । ?

प्रश्न– णेर या त । गिंदियवज्जा भाणियव्व ज –वेमाणिया । एगिंदिया जीवा भाणियव्वा ।

ज ण इवाए त सावाए, तह अदिराणाद णे, हुणे, परिग्ग , हे जा मिच्छादंसण । एवं एए अट्ठ र चउवी सं दं भाणि व्व ।

सेवं भंते ! वं भंते ! त्ति भगवं गोयमे स णं भगवं जाव–वि रति ।

संस्कृत- ।या-प्रश्न-अस्ति भगवन्! जीवैः प्राणातिपातः क्रिया क्रियते?

उत्तर-हन्त, अस्ति।

प्रश्न-सा भगवन्! किं स्पृष्टा क्रियते, अस्पृष्टा क्रियते?

उत्तर-यावत्-निर्व्याघातेन षड्दिशम्, व्याघातं प्रतीत्य स्यात् त्रिदिशम्, स्यात् चतुर्दिशम् पञ्चदिशाम्।

प्रश्न-सा भगवन्! किं कृताक्रियते? अकृता क्रियते?

उत्तर-गौतम! कृता क्रियते, नो अकृता क्रियते।

प्रश्न-सा भगवन्! किम् आत्मकृता क्रियते, परकृता क्रियते, तदुभयकृता क्रियते।

उत्तर-गौतम! आत्मकृता क्रियते, नो परकृता क्रियते, नो तदुभयकृता क्रियते।

प्रश्न-सा भगवन्! किम् आनुपूर्वीकृता क्रियते, अनानुपूर्वी । क्रियते?

उत्तर-गौतम! आनुपूर्वीकृता क्रियते, नो अनानुपूर्वीकृता क्रियते। या च क्रियते, या च करिष्यते, सर्वा सा आनुपूर्वीकृता इति वक्तव्यम् स्यात्!

प्रश्न-अस्ति भगवन्! नैरयिकैः प्रा ।तिपातक्रिया क्रियते?

उत्तर-हन्त, अस्ति।

प्रश्न—सा भगवन्! किं स्पृष्टा क्रियते, अस्पृष्टा क्रियते ?

उत्तर—यावत्-नियमात् षड्दिशं क्रियते ।

प्रश्न—सा भगवन्! किं कृता क्रियते, अकृता क्रियते ?

उत्तर—तदेव यावत्-नो अनानुपूर्वीकृता इति वक्तव्यम् स्यात् ।

यथा नैरयिकास्तथा एकेन्द्रियवर्ज्या भणितव्या यावत्—वैमानिकाः । एकेन्द्रिया यथा जीवा तथा भणितव्याः ।

यथा प्रा ातिपातस्तथा मृष ादः; तथाऽदत्तादानम्, मैथुनम्, परिग्रहः, क्रोधोयावत् मिथ्यादर्शनशल्यम् । एवमेते अष्टादश चतुर्विंशतिर्दण्डका भणितव्याः ।

तदेवं भगवन्! तदेवं भगवन्! इति भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं यावत्—विहरति ।

शब्दार्थ—

—भ ! ा जीवों ार ाणातिपा क्रिया ी ाती ?

उत्तर—हाँ, की ाती ।

श्न ी वाली ि या र या पृ है?

र— ! यावत्--न्या । न हो ो छहों ि । ो ार व्याघा ो दाचि ती दि । ों

हो, कदाचित् चार दि । ो ार कदाचित् पांच दिशा ों ो स्प ती ।

— वन्! ी वा ी क्रिया कृत है या ?

त्तर— तम! वह ि । कृत है, नहीं है।

श्न—भगवन्! ी ाने वा क्रिया त्मकृत है, है या भय है?

उत्तर— ी ! वह त्म है, पर या उभय- ।

प्रश — वन्! ो या ी ी है वह अनुक्र - पूर्व है । ि । नु कृत ?

उ — ी ! व अनुक्रमपूर्व कृत है, ि नुक्रम त नीं । ौर ो क्रिया ी रही है त । ी ाय ी वह ब नु पूर्व त है, विना , ऐ हना चाि ।

प्रश्न—भगवन्! ार हों ारा मा ातिपा ि । ी जाती है?

ी । हां, ी ी ।

—भगवन्! क्रिया ी ी,

। स्पृष्ट

र— ! या त्-नि हो दि । ों

ी ।

—भ ! क्रिया ी जाती , वह

। अकृत ?

उत्तर— ! वह ी । त्

ह ि । , । । हिए।

नैरयि ों ए न्द्रिय ा र वत्-

ा चाहिए र जी ों ी मां

न्द्रियों में । चा ि ।

ि समा मृषा द, त्तादा , शुन,

ि , , र ावत्--ि थ्या शल्य

ए । ह ी ार र ाप । ों

ी दंड चा ि ।

भ वन्! सी ार ! ! य इसी

! ऐसा भगवान् ौत , श्रमण वं

महावीर र ार । त्-ि चर ।

व्याख्यान

लोक और अलोक की सीमा मिली हुई है और लोकमें जीव रहते है, यह कहा जा चुका है। अब प्रश्न यह है कि जीव लोक मे बँधा क्यो है ? अनन्त शक्ति के स्वामी आत्मा को किसने बंधन में डाल रखा है ? इस प्रश्न का उत्तर विविध प्रकार से दिया जाता है। किसी-किसी का मन्तव्य यह है कि ईश्वरने जीव को संसार में बाँध रक्खा है। जीव की डोरी उसी के हाथमें है। वह छोड़ेगा तो जीव संसार से छूटेगा, नहीं छोड़ेगा तो बँधा रहेगा। राजा-महाराजा के कारागार में बहुत से कैदी बंद रहते हैं। अगर राजा को किसी प्रकार की प्रसन्नता हुई तो वह उन्हें मुक्त कर देता है। अनेक वार तो दया से प्रेरित होकर के भी राजा उन्हें छुटकारा दे देता है। मगर क्या ईश्वर को दया नहीं आती, वह जीवों को इस दुःखमय संसार से मुक्त कर दे ? इसके अतिरिक्त यह भी देखना चाहिए कि ईश्वर ने जीवों को संसारमें क्यो फँसा रक्खा है ? अगर यह कहा जाय कि ईश्वर िलाड़ी है आर खेल करने के लिए ही उसने जीवों को संसारमें बांध रक्खा है तो ऐसा ि लाड़ी ईश्वर कैसे कहला सकता है ? क्रूरता और ईश्वरत्व का मेल नही मिलता। कई लोग कहते हैं-जैन लोग ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, लेकिन यह बात मिथ्या है। जैनो ने ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है, मगर उसमे ऐसे

धर्म वे स्वीकार नहीं करते, जि े ईश्वरके ईश्वरत्व में बट्टा लगता हो अथवा उसकी महिमा मलीन हो हो। सृष्टि का कर्त्ता-हर्त्ता धर्त्ता मानने े ईश्वर में अनेक दोष आते हैं अतएव जैन ईश्वर को क ा नहीं मानते। गीता में भी एक जगह कहा है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

अर्थात्—व्यापक-ईश्वर कर्म नहीं कराता है और न कर्म का संयोग ही कराता है।

गी के इस कथन पर विचार करने से क्या यह मालूम नहीं होता कि यही बात जैन भी कहते हैं ? विचार करने पर अवश्य ही यह मालूम होगी।

मतलब यह है कि वास्तव में ईश्वर ने जीव को र में नहीं बांध रक्खा है। मगर इस े प्रश्न हल नहीं होता। प्रश्न भी उपस्थित है कि े फिर जीव को किसने बांध रक्खा है ? इसी बात को करने के लिए गौतम स्वामी आगे प्रश्न करते हैं।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—प्रभो ! क्या संसारी जीव मोह में पड़कर अपने सुख के लिए या और किसी कारण से प्राणाति-क्रिया करते हैं ? अर्थात् जीव का घात करने की क्रिया करते हैं ? गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् फर्माते है—

हां गौतम ! करते हैं। तब गौतम स्वामी पूछते हैं—प्रभो ! जीव प्राणातिपात-क्रिया आप करते हैं या और कोई कराता है ? अर्थात् ईश्वर, काल, आदि कोई कराता है ?

अनेक नर और नारियां किसी प्रकार का दुःख या शोक होने पर राम को भला-बुरा कहते हैं। उसे कोसते हैं। मगर सचाई यह है कि उस दुःख शोक का कारण वह स्वयं ही है। अतएव किसी दूसरे को कोसना वृथा है या दूसरे को कोसना अपने को ही कोसना है। कारण यह है कि प्रत्येक जीव अपने सुख दुःख का कारण आप ही है। काम आप करना और उसका उत्तर-दायित्व किसी अन्य के सिर मॅढ देना उचित नहीं है। यही बात समझाने के लिए गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं—हे गौतम ! जीव प्राणातिपात की क्रिया स्वयं करता है, दूसरा कोई नहीं कराता। अगर दूसरा कोई कराता है तो कराना ही उसकी क्रिया है और उसके फल का भागी वह होता है।

जीव प्राणातिपात की क्रिया से ही संसार के बंधन में पड़ा है। बंधन में डालने वाला दूसरा कोई नहीं है।

हे आत्मन् ! तू ही प्राणातिपात क्रिया का कर्त्ता है और प्राणातिपात क्रिया ही बंधन है। इसे अगर रक्षा में (जीव रक्षा में)

दे तो मुक्ति का पथ तुझे दिखाई देने ।
आघात का प्रत्याघात और गति की प्रत्यागति होती ही है। तुम्हारा थ चलेगा तो दूसरे का भी चलेगा ही । जब तुम दूसरे मारने के लिए थ उठाते हो, तो धान होकर सोच कि तुम को ही मारने के लिए हाथ उठा रहे हो ! और तुम दूसरों की रक्षा के ए हाथ बढ़ाते हो तो अपने लिए न्ति सागर भरते हो। तुम स्वयं अपनी र । करते हो।

बहुत गों का यह खयाल है कि आजक के जमाने में इस प्रकार की विचार-धारा आत्मघातक है । इससे दुनिया काम नहीं चलता। यहां तो थप्पड़ के बदले घूंसा ाने ही हैं। मगर गंभीरता विचार करने पर अवश्य प्रतीत होगा कि भ्रमपूर्ण है। लोगों को झूठा विश्वास हो है। आज भी क्या ऐसे पुरुषों का सर्वथा अभाव है जिन्होंने विशुद्ध द्वारा अपने विरोधियों पर भी विजय त की है ? नहीं। धर्मर में, हृदय । कोमल हो जाता है, ही कोमल अन्यत्र भी रहे—वह के जीवन व्यापिनी जाय, स्वभाव में दा ल हो जाय, काम । है। इसलिए द्धि लगाकर देखो कि जीव को मारना अच्छा है जीव को बचाना ?

अगर त र का जवाब तलवार से और थप्पड़ का उ

थप्पड़ से देने पर शान्ति हो जाती होती तो संसार में अशान्ति का नाम-निशान न रहता। अनादि काल से संसार में शस्त्र-संग्राम चल रहा है, अब तक तो कभी की शान्ति स्थापित हो गई होती। हिंसा के बदले प्रतिहिंसा करने से गुलामी के बंधन में पड़ना पड़ता है। आज अगर किसी से पूछो तो एक ही स्वर में उत्तर मिलेगा कि संसार लड़ाई से घबड़ाया हुआ है। युद्ध और संहार के नये-नये साधन निकाले जा रहे हैं। फिर भी शान्ति नहीं हुई; वरन अशान्ति बढ़ती ही जाती है। बहुत से लोग इस तथ्य का अनुभव कर रहे हैं, मगर चिरकालीन संस्कारों के कारण वे अपना पथ नहीं बदल सकते। अगर हिंसा से ही संसार का काम सुविधापूर्वक चलता होता तो आज आप का अस्तित्व संसार मे दि ई न देता। अगर आप की माताने आपको मारा ही मारा होता तो आप की क्या दशा होती? बाह्य दृष्टि से भी देखिये, तभी प्रतीत होगा कि यह संसार, संसार के आधार पर ही टिका हुआ है। अगर पूर्णरूपेण अहिंसा को अपना लिया जाय तो संसार में ई-झगड़ा रह ही नहीं सकता।

इस प्रकार तुम अपने आप ही संसार में बंधे हो। दूसरा कोई भी तुम्हें नही बांध सकता। आत्मा स्वयं ही कर्त्ता और भोगता है। गीता मे भी कहा है—'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्' अर्थात् अपने द्वारा ही अपना उद्धार करना चाहिए—आत्मा ही आत्मा का उद्धार कर सकता है।

हिंसा के हृदय में कैसी लहर आती और अहिंसा के लहर होती है, यह जरा अन्तर्दृष्टि देखो। अहिंसा की भावना हृदय को आनन्द की तरंगों भर देती है। वह आनन्द दूसरे के लिए नहीं, वरन् अहिंसक के लिए है। अहिंसक ही उ उपभोग कर है। इसके विरुद्ध, हिं : की लहर आती है र वह हिंसक को ही भोगना पड़ है।

कहा । है कि कभी-कभी किसी-किसी को क में ही आनन्द है। मगर यह धारणा भ्रममय है। रात में कुत्ते भौंकते हैं र पकी नींद में हैं। आप उन्हें रोकना चाहें भी वह नहीं रुकते। भौंकना बुरा है, लेकिन वे भौंकने में ही ानन्द हैं। आपकी मे आनन्द मानना, वास्तव में आनन्द है म है?

' म है।'

इसी र जो लोग म -काट में आनन्द मानते हैं, उन्हें भूला: समझो। जो हिसाब कुत्तों के लिए गाते हो, वही अपने लिए नहीं ागू करते? भूल जिस में आनन्द माना है, में वह आनन्द नहीं है।

प्राण, जीवन की अनिवार्य वस्तु का म है, जिससे प्राणी जीवित रहता है। आत्मा का नहीं है, किन्तु णों

का नाश अवश्य है। प्राणों का नाश करना ही हिंसा या प्राणातिपात क्रिया है। प्राणातिपात क्रिया, जीवहिंसा या आत्मघात कहलाती है, परन्तु यह व्यवहार की बात है। वास्तव में आत्मा का नाश होता ही नहीं है। किसी का धन जाने पर वह मर नहीं जाता, लेकिन कहता है कि मेरा प्राण चला गया। अर्थात् धन उसे प्राणों के समान प्रिय था। वह धनको जीवन का आधार मानता था। जीवन के आधार के जाने से प्राण जाने के समान दुःख होता है। इसलिए धनहरण की क्रिया को शास्त्रकार हिंसा कहते हैं। केवल धन ही नहीं, किन्तु कोई भी वह वस्तु, जो प्राणी को प्रिय है, उसे प्राणी से अलग कर देना—प्राणी का उससे वियोग करा देना इसे हम प्राणहिंसा कहते हैं।

जीव को धन क्यों प्रिय लगता है ? इस लिए कि वह धन को प्राणों का आधार मानता है। पत्थर और सोना—दोनों ही जड़ हैं। मगर पत्थर के जाने पर उतना दुःख न होगा, जितना अपना माने हुए सोने के चले जाने पर होगा। क्योंकि सोने से प्राणी अपना जीवन सुख से बीतना मानता है। उस सोने से उसकी गर्ज पूरी होती है। अगर स्वर्ण से प्राणी की गर्ज पूरी न होती हो तो प्राणी को उस पर ममता ही न होती। इसी प्रकार और वस्तुएँ—जो प्राणी को सुख देने में सहायक होती है, जैसे घर या कपड़ा आदि कोई नष्ट कर दे, तो इससे प्राणी को दुःख होता

है। क्योंकि घर का ड़ना अर्थात् उस प्राणों आधार तोड़ना है। प्राणी कपड़े से जीता ही नहीं है, वरन् कपड़े वह प्राणों का आधार मानता है। अतएव उसके . को फाड़ देने से भी उसे दुः होगा। इसलिए यह भी हिंसा है। लब यह है कि प्राणों को या प्राणों के लिए प्रिय किसी वस्तु को नष्ट कर देना हिंसा है। जब प्राणों की धारभूत मानी हुई वस्तु का नाश कर देना भी हिंसा है जिस प्राण के होते वह वस्तु प्रिय लगती है, उस प्राण का नाश करना । हिंसा न होगा ? अवश्य ही वह महाहिंसा है। इस प्रकार प्राणों के नाश करने की क्रिया को ही णातिपात क्रिया कहते हैं।

गौतम मी पूछते हैं—भगवन्! यह प्राणातिपात क्रिया एक दूसरे का स्पर्श होने पर लगती है या बिना स्पर्श ए ही ? भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! होने पर ही यह क्रिया लगती है।

यहां यह पूछा जा सकता है कि किसी प्राणी का मकान करने में हिंसा लगती है, लेकिन मकान नष्ट करते समय प्राणी का स्पर्श नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह बात कैसे लागू हो सकती है कि स्पर्श होने पर ही णातिपात या लगती है ?

इस प्रश्न उत्तर यह है कि स्पर्श तीन प्रकार से होता है—

मन से, वचन से और काय से। किसी ने मन के प्रयोग से किसी प्राणी को मार डाला और काय से उसका स्पर्श नहीं किया; तो क्या उसे हिंसा नहीं लगेगी ? मन से उस प्राणी को मार डालने का संकल्प हुआ, इस कारण मानसिक स्पर्श हुआ और उसे क्रिया लगी।

यह तो शास्त्रीय समाधान हुआ। विज्ञान से भी यह बात सिद्ध की जा सकती है। जैन धर्म में एक लेश्या-सिद्धान्त है। योग और कषाय की एकता होने पर कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। शास्त्रकारों ने कषाय आदि समुद्घातों का भी निरूपण किया है। कषाय का भी समुद्घात होता है।

एक अंग्रेजी भाषा की पुस्तक देखने में आई थी, जो आधुनिक विज्ञान के आधार पर लिखी गई है। उसमें कषाय आदि कुछ चित्र भी थे। उसमें बतलाया गया था कि जब किसी व्यक्ति को, किसी पर क्रोध उत्पन्न होता है तब क्रोधी के शरीर से छुरी, कटार, तलवार आदि शस्त्रों के आकार के पुद्गल निकलते हैं। उन पुद्गलों का रंग लाल होता है। कहावत प्रचलित है कि क्रोध से आँखें लाल हो गई। क्रोध आने पर चेहरा लाल हो जाता है, यह कौन नहीं जानता। इस प्रकार विज्ञान वेत्ता यह स्वीकार करते हैं कि ध करने वाले के शरीर से लाल रंगके पुद्गल निकलते हैं। वे के आकार के लाल रंग के पुद्गल, जिस

क्रोध किया जाता है, उसे स्पर्श करते हैं। अगर वह दूसरा भी पहले के समान क्रुद्ध हो उठा तो उसके शरीर से भी ऐं ही पुद्गल निकलते हैं और दोनों शरीरों से निकले हुए पुद्गलों युद्ध होने लगता है। इससे विपरीत, अगर दूसरे ने ध नहीं किया-क्षमाभाव रक्खा तो जल से आग बुझ जाती है, वैं पहले व्यक्ति के शरीर से निकले हुए पुद्गल भी बेकार हो जाते हैं। इसीकारण गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया है कि जीव दूसरे को स्पर्श करके प्राणातिपात क्रिया करता है या, बिना स्पर्श किये ही ? इसका उत्तर भगवान् ने दिया है—स्पर्श करते ही।

एक आदमी यहां दूर बैठा है। यहां एक आदमी ने उसे का विचार किया, जि उसे चार क्रियाएं लग गईं। गर उसने मंत्रादि का प्रयोग कि तो पांच क्रियाएं लगीं। यद्यपि वह आदमी दूर—बम्बई में बैठा है और मारने का विचार करने ला यहां है। उसने उसे स्पर्श नहीं किया। लेकिन शास्त्र कह है कि स्पर्श होने पर ही क्रिया लगती है, यह बात किस प्रकार हो सकती ? यह बात दूसरी है कि किसी बात को समझाने वाला कोई न हो, परन्तु भगवान् ने अकारण ही यह वर्णन नहीं किया है भगवान् की वाणी पर स्था रखने से कभी कोई ऐसा पुण्यवान् भी मिलेगा जो उस बात का रहस्य आपको बतला देगा धर्मशास्त्र में कहा है जिन वचनों के सुनने से क्षमा, अहिंसा

आदि की शिक्षा मिलती है, वह ईश्वरीय वचन है और जिन्हें सुनने से क्रोध, हिंसा आदि दुर्भावों की जागृति होती है, वे चाहे ईश्वर के नाम पर ही क्यों न कहे गये हों, उन्हें मत सुनो।

क्रोध करने पर मन के पुद्‌गल कहाँ जाते हैं, यह बात विज्ञानवेत्ताओं ने यंत्रों की सहायता से देखी है, मगर भगवान् के पास यंत्र नहीं थे। उन्होंने अपने ज्ञान से किस प्रकार देखा होगा ? इस बात का विचार करके भगवान् के वचन पर विश्वास रखना चाहिए। दूरवर्त्ती मनुष्य का मानसिक पुद्‌गलों के साथ किस प्रकार स्पर्श होता है, यह पहले बतलाया जा चुका है।

जीव चाहे कहीं भी रहे, उसका स्पर्श चाहे हो या न हो, तब भी उसके प्रति बुरी भावना होने से हिंसा का पाप लगता है, ऐसी सद्‌भावना अन्तः करण में उत्पन्न होने पर आत्मा का एकान्त हित ही होता है, अहित नहीं होता।

बहुतेरे मनुष्य ऊपर की क्रिया करने में लगे रहते हैं, परन्तु अपने मन की ओर नहीं देखते। मन में क्या-क्या भरा है, इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता। लेकिन जब तक मन स्वच्छ नहीं है, तब तक केवल ऊपरी दिखावटी क्रिया सार्थक नहीं होती। कहा भी है—

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भाव शून्याः ।

अर्थात—भावहीन क्रियाएँ सफल नहीं होती है। कहा है-

एक बगुला बैठो तीर ध्यान धर नीर में,
एक लोग कहे याको चित्त बस्यो रघुवीर में।
याको चित्त माछला माँय जीव की घात है,
हा बाजिन्द दगाबाज को नाहिं मिले रघुनाथ है।

ऐसी क्रिया ` काम नहीं होता। किसी ने, जलाशय के किनारे पर ध्यान लगाये बैठे बगुले को देखा। उसे द कर उसने कहा—ओहो! यहाँ के तो पक्षी भी योगियों की तरह ध्यान गाते हैं! बगुला ध्यान लगाये बैठा था, मगर मन के भाव कहाँ छिप सकते थे? जब तक मछली नजर न आती तब तक वह ध्यान मे बैठा रहता और जैसे ही मछली नजर ई कि उस पर झपटता और उसे मार ता। इसी प्रकार बहुत से लोग मुँहपत्ती बाँध कर या तिलक लगाकर, बकध्यानी बनकर लोगो को ठगते हैं। लोग उसे बकध्यानी समझते हुए भी लोभ-ल च आदि से प्रेरित होकर उपेक्षा करते हैं। मगर । तो ऐसे लोगों को मिथ्याचारी ही कहता है।

कहता है—दुर्भाव से प्रेरित होकर अगर मन से भी किसी जीव का स्पर्श करोगे तो पाप होगा। हाँ, अपने ध्यान में

मग्न रहे, पाप की ओर मन न जाने दे, तो पाप से बचाव हो सकता है।

तदनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! प्राणातिपात क्रिया एक दिशासे स्पर्श होने पर लगती है या छहों दिशाओं से स्पर्श होने पर ?

यहाँ एक आशंका और ड़ी की जा सकती है कि एकेन्द्रिय-पृथ्वी काय आदि—जीवों के मन भी नहीं होता—वे मन से भी किसी दूसरे जीव का स्पर्श नहीं करते, फिर उन्हें हिंसा कैसे लगती है ? इसका समाधान यह है कि एकेन्द्रिय जीवों के केवल द्रव्यमन—संकल्प विकल्प करने का नहीं है, किन्तु मन की एक अस्पष्ट मात्रा उनमें भी पाई जाती है। अंधे पुरुष के आँख न होने पर भी जैसे वह पंचेन्द्रिय कहलाता है, उसी प्रकार उस अस्पष्ट मन के कारण उन्हें भी एक अपेक्षा से मन वाला कहा जा सकता है, एकेन्द्रिय जीव में भी प्रशस्त या अप्रशस्त अध्यवसाय होता है। अध्यवसाय के कारण ही उन्हें प्रणातिपात क्रिया लगती है। अध्यवसाय क्या है और उनमें किस प्रकार होता है, यह नहीं जान सकते। इस के लिए अर्हन्तों के वचन पर ही विश्वास करने से म चल स ा है।

जीव को कितनी दि ाओं से स्पर्शी हुई क्रिया लगती है, इस

विपय में छह दिशा और तीन दिशा का अन्तर है। लोक कहीं से कम चौड़ा ह कहीं ज्यादा चौड़ा है। त्रस नाड़ी में रहने वाले जीवों को छहों दिशाओं की क्रिया लगती है; लेकिन त्रसनाड़ी के बाहर स्थावरनाड़ी के कोने में रहे हुए जीव को जघन्य तीन दि ा-ओं में स्पृष्ट क्रिया लगती है और उत्कृष्ट छह दिशाओं में स्पृष्ट।

गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन् ! प्राणातिपात क्रिया करने से लगती है या बिना किये ही लगती है ? भगवान् ने िया--गौतम ! करने पर ही लगती है, बिना किये नहीं लगती।

इस पर आप कह सकते ैं कि--तब तो अपने हाथ से कोई सावध क्रिया न करें, तो बस पाप से बच जाएँगे। अपने हाथ से रोटी बनाने मे क्रिया लगती है; दूसरे से बनवा लेने में क्या पाप है ?

कई लोगों की यह मिथ्या कल्पना है कि दूसरे की बनाई हुई सिधी रोटी ा ली, स्वयं हाथ से नहीं बनाई तो क्रिया नहीं लगती। क्योंकि श में कहा है कि करने वाले को ही क्रिया लगती है। ऐसा समझने वालों को यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि जो वस्तु तुमने खाई या काम मे ली और जो तुम्हारे उद्देश्य से बनाई गई है वह भले ही तुमने न बनाई हो, दूसरे ने ही बनाई हो, लेकिन वह बनाई तुमने ही है। जो रोटी तुमने

ई, या जो चीज काम में ली, उसके लिए तुम यह भले ही कहो कि यह चीज दूसरे ने बनाई है, मगर उस चीज की क्रिया तुम्हें भी लगेगी, क्योंकि उसमें तुम्हारा निमित्त है। उसे खाने या काम मे लाने से परोक्ष रूप से तुमने प्रेरणा की है। अगर तुम बनाने वाले से कह देते कि मेरे लिए मत बनाना, मैं किसी दूसरे प्रकार से निर्वाह कर लूंगा, तब तो बात दूसरी है। लेकिन ऐसा न करने पर जो तुम्हारे ही लिए बना है, उसे काम में लेना या खाना और फिर यह कहना कि हमने यह क्रिया नहीं की, यह क्रिया से बचने का असफल बहाना है, केवल अपना मन-बह-लाना है। अलबत्ता, जिस क्रिया के करने मे मन भी नहीं लगाया, वचन भी नहीं लगाया और काया भी नहीं लगाई, वह क्रिया अवश्य न लगेगी।

अब आप कहेंगे कि, 'करना, कराना और अनुमोदन करना, यह तीन भंग हैं। अगर क्रिया स्वयं न की तो एक भंग से तो बच गये ? अगर हमने एक करण एक योग से त्याग किया है तो वह त्याग भंग नहीं हुआ !

इस प्रकार का विचार करके कई लोग घरकी बनी रोटी न खाकर हलवाई की दुकान की ना अच्छा समझते है। उनकी समझ यह है कि घर पर ने से क्रिया लगती है और हलवाई की दुकान मे दूसरा बनाता है, इस लिए क्रिया नहीं लगती।

गर यदि इस प्रकार ऊपरी दृष्टि से ही दे । जाय तो घर में भी आप रोटी नहीं बनाते, स्त्री बनाती है। पर चाहे हलवाई की दुकान से खरीद कर ओ, चाहे घरकी स्त्री की बनाई ाओ, क्रिया अवश्य लगेगी। के परिणाम जै होंगे, जैसी क्रिया गे बिना नहीं रह सकती।

यह इच्छा नहीं करते कि हमारे लिए रेल चले। वह तो भी चलती है। आप उसमें बैठें या न बैठें, रेल चलेगी ही। आप केवल टिकिट लेकर उसमें बैठ जाते हैं, फिर भी क्रिया लगती है या नहीं ल ती ? इसके सिवा रेलतो रोजही ती-जाती है, आप ने अपने लिये नहीं चलवाई है; और गाड़ी आप पने ही लिए तवाकर कहीं जाते हैं; तो इन दोनो मे से अधिक क्रिया किसमें ती है ?

'रेल मे'

ऊपर से तो की क्रिया शायद थोड़ी मालूम हो। और कोई यह भी समझले कि बहुत से आदमी रेल में बै हैं, इस लिए थोड़ी-थोड़ी ि सब के हिस्से में आजायगी, लेकिन यह नहीं कहता। कहता है कि रेल बैठने वालों के लिए है, अतएव सब बैठने वालो को रेल की क्रिया लगती है। इसी प्रकार हलवाई की दुकान पर मीठाई खरीददारों के लिए ही बनी है। पैसे देकर जो लेता है, उसे मिठाई बनाने की क्रिया

लगेगी। घरके चूल्हेमें और हलवाई की भट्टी में यों भी बहुत अंतर है। श्रावक के घर लकड़ी, जल आदि सामग्री का विवेक रक्खा जायगा, मगर हलवाई के यहां यह विवेक कहां ?

कभी कभी अपने हाथ से काम करने में जितना पाप होता है, उसकी अपेक्षा दूसरे से काम कराने में अधिक पाप होता है। एक बार मेरे सांसारिक मामाजीने दावत दी। उस समय मैं आठ दस वर्ष का था। मामाजीने मुझसे भंग की पत्ती लाने को कहा। उस समय भंग का ठेका नहीं था। बाड़े में ही बहुत-सी भंग लगी थी। मै बच्चा था। नहीं जानता था कि कितनी भंग की पत्ती से काम चल जायगा। बच्चों को तोड़ने-फोड़ने का काम स्वभावतः रुचिकर होता है। मैं ते का खोला भर कर भंग की पत्ती तोड़ लाया। मामाजी को थोड़ी-सी पत्ती ही चाहिए थी। उन्होंने कहा-क्यों ढेर पत्ती तोड़ लाया ! मैं 'सकपका' कर रह गया और धीरे से कहा-मुझे क्या पता था।

मामाजी एक स्थानीय धार्मिक सेठ से ऐसे माम मे बहुत डरते थे और उनसे लुक-छिप कर ही भंग काम में लेते थे। अतएव आवश्यक भंग रखकर शेष छिपाकर फेंक दी। अब आप विचार कीजिये कि भंग की सब पत्ती तोड़ने का पाप मामाजी को लगा या नहीं ? अगर वे स्वयं तोड़ कर लाते तो आवश्यकतानुसार ही तोड़ते और व्यर्थ के पाप से बच सकते थे।

सारांश यह है कि अपनी काया से कार्य न करने कारण के उस समय तक हिंसा से नहीं बचा जा सकता; जबतक उसके करने में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे प्रेरणा-अनुमोदना है। विवेक रखने पर ही क्रियासे बचाव हो सकता है। बहुत--सी श्राविकाएँ सामायिक तो करती है, मगर उनसे पूछा जाय कि जल छानने की विधि क्या है, तो कह देंगी—नौकरनी जानें! वे समझती हैं कि रोटी न बनाने से और परिंडे को हाथ न लगाने से हम क्रिया से बचगई।

आपको प्रवृत्ति बुरी ही बुरी लगती है, परन्तु सत्प्रवृति के बिना निवृत नहीं हो सकती। प्रवृति में विवेक र ने के लिए ही यह उपदेश दिया जारहा है। यहां सत्य का उपदेश दिया तो क्या दुकान पर उसका पालन नहीं करेंगे? अगर वहां स्वयं असत्य भाषण न करके, दूसरे पर असत्य भाषण का भार डाल देंगे तो यह आत्मवंचना होगी। अतएव क्रिया से बचने के लिए विवेक से काम लेना चाहिए।

क्रिया करने से लगती है या बिना किये लगती है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है कि करने से क्रिया लगती है बिना किये नही लगती।

इस उत्तर पर यह तर्क किया जा सकता है कि शास्त्र मे एक

जगह तो लि । है कि जीवन को चौदह राजू लोक की क्रिया लगती है और यहां कहा गया कि करने से लगती है, विना किये नहीं। इस परस्पर विरोधी कथन में से किसे वास्तविक माना जाय? जिन जीवों का हमे ध्यान भी नहीं है, जिनका स्मरण भी नहीं है उनके सम्बन्ध में हमे क्यों क्रिया लगती है? इसके उतरमें ज्ञानी कहते हैं कि वहुत-सी वातें तुम्हें नहीं दिखती। तुम उन्हे नही जानते। तुम्हारी क्या है यह वोध होने परही तुम ऐसा तर्क कर सकते हो। अगर तुम्हें लोक के सवजीवो की क्रिया न लगती होती तो जवर्दस्ती लगाने की क्या आवश्यकता थी? ऐसा करने से किसी को क्या लाभ था? जिन महापुरुषो ने पूर्णता की स्थिति प्राप्त कर है, उन्हे उपदेश की आवश्यकता ही नहीं। उपदेश उनके लिए है भी नहीं। अपूर्ण स्थिति वालों के लिए ही उपदेश दिया जाता है। ऐसे लोगों को धर्म के संबंध में अगर कोई तर्क उपजे तो उसका धान करना उचित है। जहाँ तक धर्म का संबंध है, तर्क को प्रधानता नहीं देना चाहिए। मगर उत्पन्न हुए तर्क का समाधान न करना भी अनुचित है और वाल की खाल निकालने की कुचेष्टा करना भी अनुचित है। एकान्त तर्क ही तर्क पर तुल जाने से नास्तिकता आती है। हाँ, तर्क शक्ति को भी धर्म में उचित स्थान है, मगर नास्तिकता जनक तर्क हानिकारक ही है। वास्तव मे तर्क इतनी अस्थिर और चंचल है कि वह कहीं ठहरती

नहीं और सभी कुछ इन्द्रियों और बुद्धि द्वारा समझना चाहता है। मगर मनुष्य का सामर्थ्य इतना कम है कि बहुत-से सूक्ष्म तत्त्व-जो अनुभवगम्य ही होते हैं, उसकी पकड़ में नहीं आते। इस कारण अश्रद्धा, संशय और मोह उत्पन्न होता है चित्त की यह मूढ़ताएं आत्म विनाश का कारण होती हैं।

ज्ञानियो ने क्रिया लगने के पाँच कारण बतलाये हैं। चाहे यह कारण ज्ञान में हों या नहीं, परन्तु इन पाँच शक्तियों से कर्म-बंध की क्रिया बराबर जारी रहती है। वह पाँच कारण यह हैं:—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग। इन पाँच द्वारो से जीव-रूपी तालाव में कर्म रूपी पानी आता है। यद्यपि कर्मों के आगमन के यह पाँच द्वार हैं, तथापि कर्म आते हैं करने से ही, बिना किये नहीं आते। अ ।र बिना किये कर्म आने लगें तो जड़ पत्थर आदि और सिद्धो को भी कर्मबंध होने लगे।

'विना कीधा लागे नहीं। किधां कर्मज होय। कर्मकमाया आपणा, तेथी ख दुः होय। इम समकित मन स्थिर करो।'

अब सन्देह यह होता है कि मिथ्यात्व की क्रिया में चौदह राजू लोक की ि लगती है, सो कैसे? इस संबंध में उचित यही है कि तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मिथ्यात्व की क्रियानष्ट करो। गर मिथ्यात्व ।क्रिया नाश न करोगे तो मिथ्यात्व की क्रिया

लगेगी ही। धर्म के शा ों ने मिथ्यात्व का तिरस्कार करके यही कहा है कि करोड़ों वर्ष तपने पर भी आत्मज्ञान के बिना मोक्ष न होगा। क्यो कि जब तक आत्मज्ञान न होगा, कर्म बँधते रहेंगे और जब तक कर्म बँधते रहेंगे, मोक्ष नहीं होगा।

उदाहरणार्थ, कल्पना कीजिए, एक आदमी अपराध को अपराध समझ कर कारणवश करता है। दूसरा आदमी पागल है। वह अपराध को अपराध नहीं मानता। वह भी वही अपराध करता है। इन दोनों के अपराध का परिणाम क्या होगा? अपराध को अपराध समझकर करने वाले को कानून के अनुसार नियत सजा मिलेगी, मगर पा को तो पागल खाने मे ही बंद कर दिया जायगा। पहला व्यि नियमित अवधी पर छुटकारा पा जायगा, मगर पागल के लिए कोई अवधि निश्चित नहीं है। उसकी सजा का अन्त तभी होगा, जब उसका पागलपन दूर हो जायगा। इसी प्रकार मिथ्यात्व का पाप बहुत बड़ा है। इस पाप का अन्त नहीं है।

मिथ्याज्ञान नष्ट हो गया; सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया, व्रत अव्रत की समझ आगई, फिर क्यों नहीं स्वीकार करते? न स्वीकार करोगे तो अव्रत की क्रिया लगेगी ही।

मान लीजिए, आपने देव लोक के रत्न लेने का त्याग नहीं किया है। ऐसी स्थिती में अगर कोई देव देवलोक के रत्न लाकर

आपको दे तो आप इंकार करेंगे ? आप यही सोचेंगे कि इन्हें में क्या हर्ज है ? मैंने इन्हें लेने का त्याग नहीं किया है। आप उन्हें लेलेंगे। अगर त्यागा आ है तो आप उन्हें कदापि न लेंगे। यह न लेना का ही प है। और त्याग न होने पर ले लेना ही कर्म आने मार्ग है। यही अव्रत की क्रिया कहला है। चाहे आपको विचार हो या न हो, परन्तु जिसका त्याग न है । लेने में आप उद्यत हो जाएँगे। अतएव अव्रत की क्रिया से बचने के लिए त्याग करना नितान्त आवश्यक है।

तीसरी क्रिया प्रमाद सम्बन्धी है एक घटना सुनी थी किसी य उदयपुर—जैल मे एक बुढ़िया अपराधिनी आई थी। बुढ़िया बैठी थी और पहरेदार को नींद आगई । वह तलवार खूंटी पर टांग कर सोगया। सिपाही को यह ख्याल नहीं था कि बुढ़िया मेरी तलवार लेकर अपने आपको मार लेगी, न उसकी यह भावना ही थी कि वह मार ले ! मगर उस बुढ़िया को न जाने क्या सूझी कि उसने पहरेदार की तलवार उठाई और आत्म हत्या करने लगी। बुढ़िया को तलवार चलाने का ज्ञान नहीं था; अतएव उ र की नौंक गले में घुसेड़ ली। इस कारण वह मरी तो नहीं य-हाय करने लगी। की आवाज सुनकर पहरेदार ज उ । उसने बुढ़िय तलवार छीन ली। कदमा अदालत में गया और अदालत से सिपाही को भी सजा मिली।

सिपाही की भावना यह नहीं थी कि बुढ़िया मेरी तलवार से आत्महत्या करने का यत्न करेगी, फिर भी सिपाही को सजा मिलने का क्या कारण है ? वास्तव मे सिपाही को उसकी गफलत के लिए सजा मिली। सावधानी न रखने से—गफलत करने से सजा मिलने के सैंकड़ों उदाह मिल सकते हैं। यही बात शास्त्रीय भाषा में प्रमाद के विषय मे कही जा सकती है। संसार में प्रमाद के लिए मिलने वाली सजा क लिए तर्क-वितर्क नहीं किया जाता मगर मे कल्याण के लिए जो बात कही गई है, उसमें तर्क किया जाता है ?

आ मे एक प्रबल विकार है, जिसे कषाय कहते हैं। जैसे विकारकारक वस्तु का सेवन करने पर वह अपना असर दिखलाती ही है, इसी प्रकार कषाय करोगे तो उसके परिणामस्वरूप कर्म भी आयेंगे ही। आत्म न होने पर कषाय भी शनः—शनैः नष्ट हो जाते हैं।

पांचवां कारण योग है : जिसमें कषाय शेष नही रहा है-जो वीतराग हो गया है, उसमें भी यदि योग की चपलता है तो योग की उसे लगेगी। जबतक मन, वचन, काय का परिस्पंदन होता है- मे हलचल रहती है, तबतक किसी न किसी तरह दूसरे को पीड़ा पहुँचती ही है और जबतक अपने द्वारा दूसरो को पीड़ा पहुँचती है, तबतक मोक्ष कैसे हो सकता है ? योग न हो तो कर्म

का ईर्यापथिक-आ   भी नहीं होगा, मगर यह संभव नहीं है कि योग हों और कर्म-बंध न हों। हां, कषाय के अभावमें ^ योग के निमित्त से स्थितिबंध ार अनुभाग बंध नहीं होता, प्रकृत्ति और प्रदेश बंध ही होता है। इस प्रकार कषाय के क्षय हो जाने पर आर आत्मा का अनन्त वीर्य प्रकट हो जाने पर भी योग के कारण क्रिया लगती ह। तब कषाय युक्त योगों की प्रवृत्ति तो कर्म बन्धन का कारण है ही।

मतलब यह है कि चाहे किसी को मालूम हो या न हो, आत्मा   क्रिया करता है तब ि या लगती है। बिना किये ि   नहीं लगती। हां, अगर आत्मा गफलत से क्रिया करे ` गफलत से करने का पाप लगेगा और जानकर करेगा तो जानकर करने का पाप लगेगा। अतएव अगर क्रिया से बचना है तो सावधानी रखनी चाहिए।

गौतम स्वामी पूछते हैं-भगवन्! गर क्रिया करने से ही गती है ` अपने करने से लगती है, दूसरे के करने से लगती है या  ` और दूसरे-दोनों के करने से लगती है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया-हे गौ म! अपने करने से लगती है; दूसरे के करने से नहीं लगती।

कोई यह तर्क कर सकता है कि अगर एक पाप दो व्यक्तियों ने मिलकर किया तो व्यापार के नफे के माफिक पापमें भी ^ सा

क्यों नहीं हो जाता ? बहुत से लोग इसी प्रकार के विचारों से सीधा लेकर खाते और सीधा लेकर पहनने की गड़बड़ में प हैं लेकिन जबतक आदमी अपने आपके सहारे न होगा, तबतक गड़-बड़ नहीं मिटेगी। पाप के हिस्से होने का कानून संसार—व्यवहार मे भी नहीं है। राजकीय नियम यह है कि यदि एक अपराध चार आदमी मिलकर करें तो उन चारों को ही अपराध का पूरा पूरा दंड दिया जाता है। दंड में हिस्सा बांट को स्थान नहीं है।

कर्त्ता, कर्म और क्रिया, तीन अलग-अलग वस्तु हैं। इन तीनों के समुचित सहकार से कार्य होता है। जिसके करने से क्रिया हो वह कर्त्ता कहलाता है। अगर कर्त्ता न हो तो ि याँ नहीं हो सकती। कर्त्ता चाहे अधिक हों, परन्तु क्रिया के पाप में भाग नही होगा। प्रत्येक कर्त्ता को उसके आशय के अनुसार पाप लगेगा। पाप का बँटवारा नहीं होगा। अगर पच्चीस आदमियों ने मिलकर कोई अपराध किया है तो इन सब की जांच अलग-अलग होगी कि किसने किस नियत से अपराध किया है ? फिर जिसने जिस नीयत से अपराध किया होगा, उसे उसी के अनुसार दण्ड दिया जायगा। इसी प्रकार का कथन है कि पाप का भाग नही होगा, किन्तु अपने-अपने अध्यवसायों के अनुसार सब को फल भोगना पड़ेगा। पच्चीस आदमी मिलकर र एक मनुष्य की हत्या करते हैं तो पच्चीसों को क्रियाएँ लगेंगी।

हां, अगर इन पच्चीस आदमियों में पांच आदमी जबर्दस्ती शामिल कर लिये गये हैं उन्होंने मारने में भाग नहीं लिया है, तो उन्हें क्रिया नहीं लगेगी। दुनिया का कानून अपूर्ण है और ज्ञानियों का कानून पूर्ण है। जब अपूर्ण कानून भी दंड के हिस्से नहीं करता तो पूर्ण कानून क्यों हिस्से करेगा! सारांश यह है कि जो जीव जिस भाव से, जैसी क्रिया करेगा उसे उसी प्रकार का फल भोगना पड़ेगा। आत्मा अपने ही किये का फल भोगता है। दूसरे के पापों का फल नहीं भोगता।

जब अपनी वृत्ति यां आप में नहीं रहती—आत्मा अपने स्वभाव में स्थिर नहीं रहता, तब आत्मा पाप करता है। अगर बाहर जाने वाली वृत्तियों को आत्मा की ही ओर मोड़ लिया जाय तो पाप होने का कोई कारण नहीं है।

इसके पश्चात गोतम स्वामी पूछते है—भगवन्! अ प्राणातिपात क्रिया अनुपूर्वी से करता है या अनानुपूर्वी!

हाथ में पांच उँगलिया हैं। उन्हें एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी-इस प्रकार से गणना करना अनुपूर्वी है। इसे पूर्वानुपूर्वी भी कहते हैं। इस क्रम को उलट देना अर्थात पांचवी, चौथी, तीसरी इस प्रकार गिनना पश्चानुपूर्वी है। और किसी प्रकार का म नहीं होना अनानुपूर्वी है।

गोतम स्वामी के प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया आत्मा अनुपूर्वी से प्राणातिपात क्रिया करता है, क्रम को छोड़कर नहीं करता।

ज्ञानी पुरुषो ने इस क्रम का हिसाव किस प्रकार लगाया है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु आत्मा क्रम से करता है, संभवतः यह अर्थ निकलता है। अर्थात आत्मा मन से भी क्रिया करता है, वचन से भी क्रिया करता है और काम स भी क्रिया करता है। इस प्रकार किसी से भी क्रिया की जावे मगर अध्यावसाय के बिना ि या नही होती। अध्यवसाय के साथ चाहे हो, वचन हो या काम हो; लेकिन अध्यवसाय के चलने पर ही मन, वचन और काम चलते है। अध्यवसाय के साथ जब कोई क्रिया की ओर चलता है तो पहले पास के कर्मदलिको को ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ—चिकने घड़े पर पहले पास की रज लगेगी, फिर दूर की लगेगी। इसी प्रकार राग—द्वेष की चिकनाई से जीव जिन कर्मदलिकों को ग्रहण करता है, वे से ही गृहित होतेहैं; बिना के नही आते। यह अर्थ मैंने अपनी समझ के अनुसार किया है तत्वं तुके वलिगम्यम्।

गौ स्वामी पू ते हैं—भगवन्! जीव जो प्रा ातिपात क्रिया करता है, वह क्रिया अनुक्रम से की गई है, ऐसा कहा जा सकता है! इसके उत्तर मे भगवन् ने फर्माया—हां, गौतम! कहा जा सकता है।

यह प्राणातिपात क्रिया का समुच्चय विचार हुआ। लेकिन भगवान् के यहां एक का विचार हो और एक का न हो, यह नहीं हो सकता। पूर्ण पुरुष के समक्ष किसी भी प्रकार की अपूर्णता नहीं ठहर सकती। सर्वज्ञ के सिद्धान्तों में सभी का उचित विचार किया जाता है।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! नरक के जीव प्राणातिप त ि या करते हैं?

भगवान् ने फर्माया—गौतम! हां, करते हैं। शेष सब प्रश्नोत्तर पूर्वोक्त सामान्य जीव के कथन के समान ही समझना चाहिए; मगर नारकी जीवों के सम्बन्ध मे छह दिशाओं का ही स्पर्श कहना चाहिए। त्रस-नाड़ी में होने के कारण आलोक के अन्तर का व्याघात यहां नही होता।

एकेन्द्रिय के पांच दण्डकों को छोड़कर शेष सब दण्डकों के सम्बन्ध में नारकियों के समान ही कथन समझना चाहिए। एकेन्द्रिय में समुच्चय जीव की तरह छह दिशाओ और तीन दिशाओं का स्पर्श कहा गया है। एकेन्द्रिय को तीन दिशा की क्रि भी लगती है, चार की भी लगती है और पांच की भी ती है। उत्कृष्ट छह दिशा की क्रिया तो है ही।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! प्राणातिपात से ही

क्रिया लगती है या और किसी तरह से भी क्रिया लगती है? भगवान् ने फर्माया–हे गौतम! अठारह तरह से क्रिया लगती है। प्राणातिपात के समान ही शेष सत्तरह स्थानों को भी समझ चाहिए।

प्रणातिपात क्रिया के ान मृषावाद की ि या के भी प्रश्नोत्तर समझना। -भगवन्! क्या जीव मृषावाद की ि या करता है? वान ने उत्तर दिया–हां, गौतम! करता है।

धारण झूठ तो सभी की समझ में आजाता है, परन्तु तात्विक (तत्व से सम्बन्ध र ने वाले) झूठ को समझ लेना इतना सरल नहीं है। घड़े को घड़ा कहना, कपड़ा नहीं कहना यह साधारण सत्य हैं। घड़े को घड़ा कहने की बात व्यवहारिक है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से देखना चाहिए कि एकान्त दृष्टि से घड़े को घड़ा समझा और कहा है या अनेकांत दृष्टि से? घटके कारणों को पत्ति में कोई विपर्यास तो नहीं है? उदाहरणार्थ प्रश्न किया गया कि घट की उत्पत्ति कहां से ई है? उत्तर होगा–कुंमार से। पूछा गया–कुंमार उपादान कारण है? या निमित्त कारण है? अगर किसीने कुंमार को उपादान कारण कहा तो समझिए कि यह मिथ्या है। क्योंकि उपादान कारण पहले तो कारणरूप होता है कर्त्ता और निमित्त कारण के व्यापार से स्वयं कार्यरूप में परिणत हो जाता है। जैसे कपड़ा सूत से बना है, अतः

सूत, क   उपादान कारण है, क्योंकि सूत, जुलाहे करघा आदि निमि कारणों संसर्ग से ही कपड़े के रूप में परिणत हो जाता है। अगर सूत के आगे कर विचार करें रुई उपादान कारण ठहरेगी और सूत उसका कार्य होगा। इ प्रकार आगे बढ़ते जाने पर अन्त विवाद खड़ा हो है। जैसे-प्रश्न किया गया-रुई कहां आई ? उत्तर मिला--मिट्टी र प्रश्न हुआ-मिट्टी कहां आई ? उत्तर मिलेगा-परमाणु से। यह अन्त हुआ। इस पर प्रश्न उपस्थित हो है--परमाणु कहां से आये ? इ प्रश्न के उत्तरमें मतभेद हो है कोई कहता है- श्वर , कोई कहता है परमाणु दैव विद्यमान रहते हैं। इस ध में जैन धर्म की मान्यता यह है कि जीव अनादि से है उसी प्रकार पुद्ग द्रव्य भी अनादिसे है। ईश्वर-वादी जैसे ईश्वर को अनादि मानते हैं उसी प्रकार पुद्गल को अनादि मानने में कोई बाधा नहीं दिखाई देती।

मतलब यह है घड़ा कुमार ने बनाया है, यह तो सभी कहेंगे, मगर उसकी कारण-परम्परा पर--उसके मूल पर विचार करने पर अनेक प्रकार के विवाद उपस्थित हो जाते हैं, यद्यपि कई ऐसे दर्शन । भी हैं जो घड़े को काल्पनिक मानते हैं और घड़े की तरह अन्यान्य पदार्थों को भी कल्पना ही समझते हैं। उनके अभिप्राय से न या के अतिरिक्त और किसी भी पदार्थ स्तव में आस्तित्व नहीं है।

निमि　　　　वह कहलाता है, जो कार्य की उत्पत्ति में सहायक तो हो, मगर स्वयं कार्य के रूप में न पलटे। जैसे घड़ा बनने में चाक, डंडा आदि। इन कारणों की घड़ा बनाने में आवश्यकता है, मगर वे घड़े ˋ बनाकर अलग रह जाते हैं; स्वयं मिट्टी की भांति घर नहीं बन जाते, अतएव वह उपादान कारण नहीं, वरन निमित्त कारण है। घड़े में तो मिट्टी आई है, अतएव वही उपदान कारण हैं।

इस प्रकार घड़े को घड़ा कहने पर भी जो उपादान और निमित्त कारण को ठीक मानता और जानता है, वही　त्विक　ष्टि से ठीक कहता है—सत्यवादी है; अन्यथा उसे मिथ्याभाषी ही चाहिए।

यह　त दूसरी है कि ऐसी तात्विक बातें एकदम अपनी समझ में न आवें और आप इस सूक्ष्म सत्य का पालन न कर ˝; परन्तु इस और　　बढ़ाना उचित है बात को ठीक तरह समझे बिना खि　　न करने से—आग्रहशील बन बैठने से मृषावाद　　लगती है।

एक प्र　र से यह कहा जा सकता है कि आत्म　　　ही झूठ है। जहां परवंचना है वहां आत्मवंचना अवश्यंभावी ˋ। मान लीजिए, एक आदमी आपके पास दस रुपये मांगने आया।

आपके पास रुपये अवश्य हैं, लेकिन आप देना नहीं चाहते और सत्य बोलने का भी आपमें साह नहीं है। इसलिए आपने कह-दिया—हमारे पास अभी रुपये नहीं हैं, होते तो दे देता। असल में देने की इच्छा नहीं थी, मगर बहाना आपने यह बनाया कि रुपये नहीं हैं। ऐसा करके आप समझते हैं कि आपने उसे समझा दिया, परन्तु दरअसल आपने अपने आपको धोखा दिया है। कहीं आपके वचन मे सत्य होने की शक्ति होती तो क्या होता ? सचमुच ही आपके घर में का रुपया गायब हो जाता ! मगर आप जानते हैं कि हमारे नहीं कर देने से रुपये कहीं चले थोड़े ही जाएँगे ! इस प्रकार तो सत्यवादी की ही बात सत्य हुआ करती है। [आ]पको [अ]पने सत्य पर ही विश्वास नहीं है।

आपने [अ]सत्य बोलकर रुपये मांगने वाले को टाल दिया, मगर उसका आपके उपर विश्वास नहीं रहा। वह जान गया कि [आ]प चाहते तो रुपये दे सकते थे, किन्तु मतलब निकालने के लिए झूठ भी बोल सकते है। इस प्रकार की आत्मवंचना करके आपने अपने को सत्पुरुषो की गणना से बाहर कर लिया। जब तक आप झूठ नही बोले थे—आत्मवंचना आपने नहीं की थी [तब] तक आप सत्यरुप थे। परन्तु झूठ बोलने के कारण आपका ईश्वरत्व ठगा गया। अगर आप साहस करके स्पष्ट कर देते—मेरे पास रुपये हैं, मगर अमुक कारण से नही दे सकता, तो

थोड़ी देर के ए वह वाला पुरुष बुरा चाहे मान लेता परन्तु यह तो कहता ही कि मुझे रुपये नहीं दिये, यह बात दूसरी है, हैं सत्पुरुष—झूठ नहीं बोलते। लेकिन आप मनुष्य को नाराज नहीं करना चाहते, ईश्वर भले ही नाराज हो जाए।

में कहा है—

सच्च भगवं

न् है। उस भगवान् को आपने असत्य बोलकर राज कर दिया। आप कदाचित् सोचते गे कि ऐसा किये बिना हमारा म नही चलता, मगर यह का भ्रम है। चिरकालीन अभ्यास के कारण ही आपको ऐसा मालूम हे है। इसी के शि र होकर ले स कर मनुष्य को नाराज करने की अपेक्षा झूठ का करते हैं।

यह है कि कभी रुपये आपके घर में हों, मगर पको उनके होने नहीं है और प कह देते हैं कि भाई! मैं देना तो चाहता ; रुपये मेरे पास नहीं हैं। ऐसी में आपको मृषावाद की नहीं लगेगी; क्योंकि कहा है उसे समझकर ही कहा है।

जहां जान-बूझकर, के मृषावाद किया जाता है, मृषावाद है।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि प्राणातिपात से लगने वाली कौन-सी है और मृषावाद से लगने वाली कौन-सी है ! इसका उत्तर है कि वस्तु तो प ही है, किन्तु के कारण ग- हैं । आदमी हाथ भोजन क है, दूसरा छुरी कांटे । हाथ से खाने थ का चेप लगेगा छुरी आदि पर उनका चेप गेगा । इसी णातिपात करने पर प्राणातिपातजन्म क्रिया लगती है और वाद करने पर मृषावाद जन्म क्रिया लगती है ।

ौतम स्वामी पूछते हैं—प्रभो ! क्या अदत्तादान की भी । लगती है ?

भगवान् उत्तर देते हैं—हां, गौतम ! लगती है ।

दिये किसी की चीज अदत्तादान कहला है। कोई आदमी बिना दी गई वस्तु तो न , परन्तु किसी से ऐसी लिखत लिखा कि जिससे विवश हो कर उस लिखने वाले लिखत के अनुसार देना प ; देने वाले का चित्त वेहक देने के कारण : , ऐसा लेने वाला अदत्तादान करता है । भले ही लेने वाला यह समझे कि वह अदत्तादान नहीं कर , ले ज्ञानी यह कहते कि कुटिलता का भाव रखकर बेहक अदत्तादान को ही अन्त त ।

'अदत्तादान' का शब्दार्थ तो इतना ही है किसी की बिना दी हुई चीज न लेना। मगर उसका भाव-अर्थ बहुत व्यापक है। कहां-कहां किस-किस प्रकार से अदत्तादान का पाप लगता है, यह जानने के लिए विवेक की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ--दो भाई शामिल भोजन करते हैं। चीज थोड़ी है और अधिक मिलने की आशा नहीं है। यह मालूम है कि इस चीज में दोनों का हक बराबर है, लेकिन एक का हाथ धीमा चलता है और दूसरे का जल्दी-जल्दी। इस कारण एक भाई अपने भाग से भी अधिक खा गया और दूसरे को उसका भत्ता भी पूरा नहीं मिला। तो ज्यादा खाने वाले को अदत्तादान की क्रिया लगती है या नहीं? आप कहेंगे--उसने कब चोरी की है? वह तो दूसरे के सामने बैठ कर ही खा रहा था। किन्तु ज्ञानी पुरुष कहते हैं--उसने ध्यान नहीं रक्खा कि इस चीज में दोनों का भाग बराबर-बराबर है। प्राण-रक्षा दोनों करना चाहते हैं। लेकिन उसने उसकी रक्षा की पर्वा नहीं की। मगर वह जल्दी भोजन करता था तो उसे उचित था कि वह पहले ही दो भाग कर लेता या अपने ही हक का लेता। यदि ऐसा किया होता तो उसे अदत्तादान की क्रिया न लगती।

एक उदाहरण और लीजिए। मान लीजिए, आप चालाक या होशियार हैं और दूसरा आदमी सीधा और भोला है, ऐसे भोले आदमी को किसी प्रकार की चाल में फंसा अनुचित उपाय

ञ्ञ ऐंठ लेना और फिर यह कहना कि मैं बिना दिये नहीं लेता या हक का लेता हूँ, ठीक नहीं। यह भी अदत्तादान है। आप की में चाहे वह अदत्तादान न हो, मगर नी की दृ में वह अदत्तादान है अगर आप यह सोचें कि यह भोला है तो क्या हुआ, इसे इसके हक का मिलना चाहिए और मुझे मेरे हक का; और आप उचित भाग ही लें तो आपको अदत्तादान की क्रिया नहीं लगेगी।

प्रकृति–प्रदत्त पदार्थों पर सबका समान अधि र है। कल्पना कीजिए पके पास दो कोट हैं। आपकी दूर करने के लिए एक ही कोट, काफी है। दूसरा कोट पहनने से शरीर मे होती है। यदि से अवसर पर आपके सामने दूसरा दमी का मारा मर रहा है। आप उसे कोट न देकर कहें कि यह कोट रा है, तो यह अदत्तादान है या नहीं? अगर आपके पास बेकाम पड़ा आ कोट, शीत से पीड़ीत पुरुष छीन ले तो उसे सरकार दंड देती है, परन्तु जिन्होंने बिना आवश्यकता के दो कोट पहन रक्खे हैं, कई-एक कोट वृथा ट्रंकों में भर रक्खे हैं, उन्हें सरकार नहीं देती। ऐसा विचित्र यह न्याय है! सरकार छीनने वाले को ही दंड देने का कानून बना सकी है, इससे आगे उसकी गति कुंठित हो गई है, लेकिन धर्म कहता है कि पने पास इतना अनावश्यक रखना कि जिसके कारण

दूसरे जीवित न रह पावे, अदत्तादान नहीं क्या है ?

आपने एक दूर से बोझा उठवाया। आप उसे मजदूरी देंगे। तो अपना पेट भरने के भ से अपनी से अधिक बोझ उ ा, न आप उसकी श देखना चाहिए। उ अगर उत बोझ ने की श नहीं है और आप जानते हैं कि इतना उठाने से वह अधमरा हो ज , फिरभी आपने उसपर बो लाद दिया, तो पैसे देने के कारण प व्यवहार में चाहे न पक जावे, केन कह है कि यह अतिभारारोपण मक अहिंसाव्रत का अतिचार है। मतलब यह है जिसे हक मा हैं, वह वास्तव में हक है नहीं, इस विचार आपको गम्भीरता पूर्वक चाहिए। कोट पहनकर अपनी मिटा लेना पका हक है, न आप अनावश्यक लादे रहे और दूसरा ठंड के मारे मर रहा हो, यह हक आपको नहीं है। बेइमानी से कमाना और बेइमानी से खर्च करना हक नहीं है। गी मे भी कहा है कि जिसने दिया है, उसे न देकर अकेले हड़प चोरी है —

को जिन गरीबो ने कपड़ा बनाकर दिया है, वे—नंग उघाड़े शीत का भोग रहे हैं र प अनावश्यक दो कोट पहने खड़े हैं! अगर आपने अपने दो कोटों मे से एक से मरने वाले गरी को दे दिया, तबतो कहा जायगा कि आपने हक

का विचार किया है, अन्यथा आप हक पर न्याय नीति पर ध्यान नहीं दे रहे हैं। ऐसी अवस्था मे श ंय परीभाषा के अनुसार अदत्तादान की क्रिया की।

अगर आप अदत्तादान की ि या से चांहते हैं तो हक कायदे के कोई भी काम मत कीजिए। एक दरी अगर चौड़ी बिना करली जाय तो उस पर कई आदमी बैठ सकते है पर ऐसा न करके उस दरी को समेट कर आप ही अकेले बैठ जायँ तो यह कायदे की बात नही।

अदत्तादान में स्थूल और सूक्ष्म भेद है। स्थूल अद ादान का त्याग करके धीरे २ सूक्ष्म अदत्तादान का भी ाग करना चाहिए। श में साधुओं के संबंध में कहा है कि अगर दो साधु एक साथ भोजन लाये और एक साधु ने उसमे से एक कौर भी अधिक । लिया तो उसे अदत्तादान की क्रिया लगी। आप संसार व्यवहार में पचे रहते है। अगर इतने सूक्ष्म अदत्तादान का त्याग न कर सके तो भी आदर्श तो यही सामने र ना चाहिए। किसी को अन्तराय तो नहीं देना चाहिए।

इसी प्रकार अठारहो पापो की क्रिया लगती है, इसलिए विवेक के साथ विचार कर पाप से बचने के लिए निरन्तर उद्योग करना चाहिए। अगर अठारहों पापों का अन्त अलग विवेचन किया जाय तो उसका पार पाना कठिन है। अतः संक्षेप मे ही उस पर प्रकाश डाला जाता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ और राग द्वेष का थोड़ा सा स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। जीव को इन विकारों के द्वारा भी क्रिया लगती है। चाहे वह चीज हो या न हो, लेकिन यदि लोभ नहीं मिटेगा तो क्रिया लगेगी ही। उदाहरण के लिए, किसी आदमी के पास पाँच ही रुपया है, मगर वह लखपति होने की चाह रखता है तो चाहे वह लखपति हो या न हो,- उसे लखपति की क्रिया लगेगी। इससे विपरीत अगर कोई लखपति होकर भी अपनी सम्पत्ति के प्रति ममत्व नहीं रखता तो उसे संचय की ही क्रिया लगेगी, लोभ की क्रिया नहीं लगेगी।

प्रश्न होता है कि जब अठारह पाप स्थानों में क्रोध और मान का नामोल्लेख कर दिया है तो फिर द्वेष की अलग क्यों गणना की है? इसी प्रकार जब माया और लोभ का नाम गिना दिया है तब राग को अलग कहने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि जिसमे क्रोध और मान—दोनों का समावेश हो जाता है, वह द्वेश कहलाता है और माया एवं लोभ के मिलने से राग होता है। जैसे दो रंगो के मिलने से तीसरा रंग तैयार हो जाता है, उसी प्रकार राग और द्वेष, क्रोध, मान, माया तथा लोभ से होने पर भी क्रोध और मान से द्वेष तथा माया और लोभ से राग होता है। अर्थात् दो-दो का एक-एक मे समावेश हो जाने से अन्तर पड़ जाता है।

प्रेम और द्वेष में भी बड़ा अन्तर है। यह भी प्रकृति का भेद है। पूर्ण वीतराग अवस्था में तो प्रेम का भी सद्भाव नहीं रहता, परन्तु नीची अवस्था में प्रेम रहता है। यहाँ प्रेम का अर्थ अभिष्वंग समझना चाहिए। अभिष्वंग रूप प्रेम, राग ही है, जिसे लोग प्रेम कहते हैं। उदाहरणार्थ-किसी को ी से धन से भंग से, मदिरा से या मिठाई से प्रेम होता है। यह प्रेम, प्रेम नहीं राग है, क्योंकि इसमें अभिष्वंग है।

जिसमें माया और लोभ का भेद अलग-अलग मालूम न हो, पर शक्कर एवं दही, या दूध और मिश्री की तरह दोनों एकमेक हो रहे हों, और इस कारण एक तीसरा ही रूप उत्पन्न हो गया हो, इसे संसार में प्रेम कहते हैं। यह प्रेम-'अट्ठिमिजा पेमाणुरागरत्ता' या 'धम्मपेमाणुरागरत्ता' के समान प्रेम नही है, वरन् राग ही है।

जिसमें क्रोध और मान का अलग-अलग भेद न किया जा सके, जिसमे दोनों का ही समावेश हो, जाए, वह द्वेष होने पर नफरत होती है। यह नफरत क्रोध से हुई है या मान से, यह नहीं जाना जा सकता। अतएव यह द्वेष कहलाता है।

मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में जो उद्वेग होता है, उसे आरति समझना चाहिए और मोहनयि कर्म उदय से उत्पन्न विषयानुराग को रति समझना चाहिए।

कपट युक्त झूठ बोलना माया मृषावाद कहलाता है। झूठ दो प्रकार का होता है। एक को काला झूठ और दूसरे को सफेद झूठ कह सकते हैं। काले झूठ को सब लोग पहचान लेते हैं, मगर सफेद झूठ को पहचानना कठिन होता है। सफेद झूठ को व्यवहार में लाने वाले लोग ऊपर से ऐसी पालिसी प्रकट करते हैं कि वह झूठ भी सत्य प्रतीत होने लगता है। आज की विद्या की यही तारीफ है कि उसे पढ़ने वाले लोग सफेद झूठ बोलने में चतुर हो जाते हैं। लेकिन शास्त्र ऐसे किसी भी झूठ को प्रश्रय नहीं देता।

झूठ तो मृषावाद रूप ही है, लेकिन माया मृषावाद कपट युक्त झूठ है। दार्शनिक भेद डालकर मारामारी फैलाने का काम झूठ बोलने वालों ने नहीं, वरन् मायामृषावादियों ने सफेद झूठ बोलने वालों ने किया है। मायामृषावादी लोग अपने असत्य पर ऐसा रंग चढ़ाते हैं कि साधारण जनता उनके चक्कर में पड़ जाती है। चाहे इस प्रकार की बनावट से लोगों को फाँस लिया जाय, मगर शास्त्र स्पष्ट कहता है कि यह झूठ भी झूठ है।

कदाचित् आप कहें कि ऐसा किये बिना काम कैसे चल सकता है? लेकिन इसके साथ यह भी विचार कीजिए कि अगर संसार के सभी लोग इसी प्रकार झूठ बोलने लगें—सभी एक—

दूसरे को ँसने के प्रयत्न में लगजाएँ तो क्या संसार का
` ?

'नहीं' !

फिर यों तो कलाल भी कहता है कि शराब पिये विना नहीं चलेगा। वेश्याएँ भी कहती हैं कि अगर हम न होगी तो कैसे चलेगा ? अगर यह बातें ठीक मानी जावँ तो यह भी माना जा सकता है कि कपट सहित झूठ के बिना संसार-व्यवहार नहीं चल सकता।

आप लोगोंने जिस सफेद झूठ के बोलने से अपने होशियार मान रक्खा है, उसे एक मास के लिए ही त्याग देखो; और इस एक महिने की आमदनी से झूठ बोले हुए एक महिने की आमदनी मिलाकर देखो तो मालूम होगा कि झूठ बोले विना चल सकता है या नहीं ! यह तो आपकी आदत पड़ गई है कि झूठ `` विना आपको काम चलता नहीं दिखाई देता। मगर की ओर झुको तो झुठ की बुराई और की महिमा देखकर चकित हो जाओगे।

कल्पना कीजिए, एक बड़ी और मोटी लकड़ी जमीन पर पड़ी है और दूसरी उतनी ही बड़ी जल में पड़ी है। जमीन पर पड़ी लकड़ी को घुमाने में कई लोगों की आवश्यकता होगी। लेकिन में पड़ी ड़ी को घुमाने के लिए उतने आदमियों की आव-

श्यकता न होगी। उसे एक साधारण-सा बालक भी घुमा सकता है। क्यो कि उसे घुमाने मे एक दूसरी शक्ति सहायक है। आप कहते है-असत्य के बिना काम नहीं चल सकता, लेकिन मेरा कथन यह है कि सत्य के बिना काम नहीं चल सकता। सत्य ईश्वरीय सहारा है। इस सहारे की विद्यमानता मे किसी भी काम मे जरासा इशारा होने की आवश्यकता है, फिर कार्य सिद्ध होने मे बिलम्ब नहीं लगता। मगर लोग यह अनुभव नहीं करते। वे झूठ मे ऐसे तल्लीन हैं कि उन्हें सत्य के अमोघ सामर्थ्य पर विश्वास ही नहीं है। सत्य का शरण ग्रहण करो तो परम कल्याण होगा।

मिथ्यादर्शनशल्य—यहाँ दर्शन का अर्थ है—अभिप्राय। जिसे मिथ्यादर्शन का शल्य लग गया, उसे सब बातें झूठी ही झूठी दिखाई देती हैं। ऐसे आदमी को देखकर ज्ञानी को शिक्षा लेनी चाहिये कि—हे आत्मन ! तू इस मिथ्यादर्शन शल्य से बचना ! देख, यह बेचारा अज्ञानी मिथ्यादर्शन शल्य के ही कारण सत्य को भी असत्य रूप में देखता है

इस प्रकार गौतम स्वामी ने अठारहों पापो के विषय मे प्रश्न किये और भगवान् ने सब के उत्तर दिये। अपने हृदय का समाधान करके गौतम स्वामी सेवं भंते ! सेवं भंते ! कहकर तप-संयम मे लीन हो गये।

भगव नू औ र अ र्य रे

पा तेणं ा णं तेणं मए
णं समणस्स भगवओ म ावीर स अंते वासी
रो णा अणगारे पगइभद्दए, प इमउए,
पगइाविणीए, पगइउवसंते, पग प णु ो -
ाण-माया-लोभे, िउ द्दवसंप , अलीणे,
भद्दए, विणीए, णस्स भ वओ म ावीरस्स
अदूर ासंते, उड्ढंजाणु, अ ासिरे, ाणकोट्ठो-
व ए, संजमेणं तवस प्पाणं भावे ाणे ि र
तएणं े े अणगारे जायसड्ढे ज्ञावपज्जु
ास ाणे एवं वयासीः-

प्रश्न पुव्विं भंते! ोए, पच्छा अ ोए?
व्विं लोए, च्छ लो ?

उत्तर रोहा ! लोए य ले,ए य, पुव्विं पेते, च्छा पेते, दो वि ए ासया भावा, णाणुपुव्वी एसा रोहा !

श्न—पुव्विं भंते ! जीव, पच्छा अजीवा ? व्विं अजीवा, च्छ जीवा ?

उ र जहेव ोए, ोए, य; तहेव जीवा य अजीवा य। एवं भवसिद्धिआ य अभवसिद्धिआ य, सिद्धि, सिद्धी य। द्धा असिद्धा।

प्रश्न—पुव्विं भंते ! अंडए, च्छा कुक्कुडी ? पुव्विं ुक्कुडी प । अं ए ?

'रोहा ! से णं अंडओ ओ ?'

'भयवं ! कुक्कु ीओ !'

'साणं कुक्क ी ओ ?'

'भंते ! अंडयाओ !'

र ए वरो ! ,स

ंवि पेते, प पेते-दुवे

भ , णाणुपुव्वीं एसा रे !

ं भं ! ोयंते, च्छा

यंते ? ं ो ते, ोयंते .

र—रो ! यंते य ो य,

ाव णा पुव्वि ए ो !

ंवि ! यंते, च्छा त

उवासंतरे ? च्छा ।

उत्तर रे । ोयंते , त उ ा-

, ंवि पि दे वि , जाव- णाणु-

पुव्वी ऐ । रो !एवं लेयं य, त य

तणु व ए, एवं घण ाए, घणे दहि,

ढवी । एवं ोयंते व णं जोएयव्वे

इमेहिं ठाणेहिं, तं जहा:-

उवास-वाय-घणउदहि-पुढवी दीवा य सगारा वासा।
नेरइ आई अत्थिय समया कम्माइं लेस्साओ ॥
दिट्ठि दं ण णाणा णा रीरा य जोग उवओग ।
दव्व पएसा पज्जव अद्दा किं पुव्वि लोयंते ॥

श्न—पुव्विं भंते ! लोयंते, पच्छा सव्वद्धा ?

उत्तर—जहा लोयं तेणं संजोइआ सव्वे ठाणा, एते एव अलोयंतेण वि संजोएयव्वा सव्वे ।

श्न—पुव्विं भंते ! सत्तमे उवासंतरे पच्छा सत्तमे तणुवाए ?

उ र एवं त्तमं उवासंतरं व्वेहिं समं संजोएयव्वं, जाव व्वद्धाए ।

श्न ंवि भंते ! सत्तमे णुवा , पच्छा सत्त े धणव प ?

उत्तर एयं पि ेव नेयव्वं, ज – स द्ध । एवं उवरिल्लं एव े क्कं संजोयंतेणं जो जो ि ट्ठिल्लो, तं छड्डंतेणं नेय ं, जाव-अती अणागयद्धा, पच्छा सव्वद्धा, ज व अ ाणुपुव्वि ए । रोहा !

ेवं भंते ! सेवं भंते ! ति जाव–वि रइ ।

स्कृत- ाया-तस्मिन् काले, तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तेवासी रोहो नाम अनगारः प्रकृतिभद्रकः, प्रकृतिमृदुकः, प्रकृतिविनीतः, प्रकृत्युपशान्तः, प्रकृतिप्रतनुक्रोध–मान––माया—लोभः, मृदुमार्दवसम्पन्नः, अलीनः, भद्रकः, विनीतः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अदूरसामन्ते, ऊर्ध्वजानुः, अधःशिराः, ध्यानकोष्ठोपगतः, संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् विहरति । तदा स रोहोऽनगारो जातश्रद्धो यावत् पर्युपासीन एवमवादीत्—

प्रश्न पूर्व भगवन् ! लोकः पश्चात् अलोकः, पूर्वम् अलोकः, पश्चाद् लोकः ?

उत्तर—रोह ! लोकश्च, अलोकश्च पूर्वमपि एतौ, पश्चाद् अपि एतौ, द्वौ अपि एतौ शाश्वतौ भावौ, अनानुपूर्वी एषा रोह !

प्रश्न—पूर्वं भगवन् ! जीवाः, पश्चाद् अजीवाः, पूर्वं अजीवाः, पश्चाद् जीवाः ?

उत्तर—यथैव लोकः, अलोकश्च; तथैव जीवा ; अजीवा । एवं भवसिद्धिकाश्च अभवसिद्धिकाश्च । सिद्धिः, असिद्धिः, सिद्धाः, असिद्धाः।

प्रश्न—पूर्वं भगवन् ! अण्डकम्, पश्चात् कुक्कुटी ? पूर्वं कुक्कुटी पश्चात् अण्डकम् ?

'रोह ! तद् अण्डकं कुतः ?

'भगवन् ! कुक्कुट्याः ।'

'सा कुक्कुटी कुतः ।'

'भगवन ! अण्डकात् ।'

उत्तर—एवमेव रोह ! तद् अण्डकम् सा च कुक्कुटी पूर्वमपि एते पश्चादपि एते-द्वौ शाश्वतौ भावौ । अनानुपूर्वी एषा रोह !

प्रश्न—पूर्वं भगवन् ! लोकान्तः, प ाद्, लोकान्तः ! पूर्वं अलोकान्तः प लोकान्तः ?

उत्तर—रोह ! लोकान्त , अलोकान्त , यावत् अनानुपूर्वी एषा रोह !

प्रश्न पूर्वं भगवन् ! लोकान्तः, पश्चात् सप्तममवकाशान्तरम् ? पृच्छा ।

उत्तर—रोह ! लोकान्त , सप्तमम्—अवकाशान्तरम् । पूर्वमपि द्वौ अपि एतौ यावत्—अनानुपूर्वी एषा रोह ! एवं लोकान्तश्च सप्तम तनुवातः, एवं घनवातः, घनोदधिः, सप्तमी पृथ्वी । एवं लोकान्त ए केन संयोजमितव्य एभिः स्थानैः, तद्यथा

अवकाश-वात-घनोदधि-पृथिवी-द्वीपा सागराः वर्षाणि ।
नैरयि दि—अस्तिकायाः समयाः कर्मा लेश्याः ॥
दृष्टिदर्शनं ज्ञानानि संज्ञा शरीराणि च योगोपयोगौ ।
द्रव्यप्रदेशाः पर्यवाः अद्धा किं पूर्वं लोकान्तः ॥
प्रश्न—पूर्वं भगवन् लोकान्तः प ात् सर्वा । !

उत्तर यथा लोकान्तेन संयुक्तानि सर्वाणि स्थानानि एतानि, एवम् लोकान्तेनापि संयोजयित व्यानि सर्वाणि ।

प्रश्न—पूर्वं भगवन् ! सप्तमम् अवकाशान्तरम्, प ात् सप्तमस्तनुवतः ?

उत्तर- एवं सप्तमम् अवकाशान्तरम् सर्वैः समं संयोजयितव्यम् यावत् सर्वाद्धा।

प्रश्न-पूर्वं भगवन् ! सप्तमस्तनुवातः, पश्चात् सप्तमो धनवातः ?

उत्तर-एवमपि तथैव ज्ञातव्यम्, यावत् सर्वाद्धा। एवं उपरितनम् एकैकेन संयोजयता यो योऽधस्तनः, तं तं छर्दयता ज्ञातव्यम् यावत् अतीत-अनागताद्धा, यावत्-अनानुपूर्व्येषा रोह !

तदेवं भगवन् ! तदेवं भगवन् ! इति यावत् विहरति।

शब्दार्थ-

उ और उ य, श्रमण भ वान् महावीर शिष्य रोह नाम अनगार थे। वह स्वभाव भद्र, स्वभाव ोमल, भाव विनीत, स्वभाव ान्त, अल्प क्रोध, मान, ाया, ोभ वा, अत्यन्त निर-भि ान, रु समीप रह वा, ि सी ो ष्ट न पहुंचाने वाले ौर गुरुभक्त थे। वह रोह न ार ऊर्ध्व जानु और नीचे झु मु वा, ध्यानरूपी ोठे में प्रविष्ट, संयम और तप से आत्मा ो भावित रते ए श्रमण भगवान् महावीर समीप विचरते हैं। तत्पश्चात् वह रो नगार

जातश्रद्ध हो कर यावत् भ वान् ी पर्युपासना रते ए इस प्रकार ोले:—

प्रश्न—भगवन्! प ले ो और पश्चात् अलो ? या पहले अ ो और फिर ो ?

उत्तर—रोह! लो और अलोक, पहले भी हैं ौर पीछे भी हैं। यह दोनों ही शाश्वत भाव हैं। हे रोह! इन दोनों में यह पहला ौर यह पि ा ऐसा क्रम नहीं है।

प्रश्न भगवन्! जीव पहले और अजीव पी ? या पहले जीव ौर फिर जीव हैं?

उत्तर—हे रोह! जैसा ोक ौर लोक के विषय में हा है, वैसाही जीवों और जीवों के सम्बन्ध में स झना चाहिये। इ ी प्रकार भव ि्धि ; भवसिद्धिक, सिद्धि और असिद्धि तथा सिद्ध और संसारी भी जानने चाहिए।

प्रश्न—भगवन्! पहले डा और फिर मुर्गी है? या पहले मुर्गी और फिर डा है?

'हे रोह! वह अंडा हां ।?'

'भगवन्! वह मुर्गी से हुआ।'

'ेरो ! ीं ं ं ?'

'भ व ! ी े े ई।'

उ र-इ ी ार ेरो ! ीं ैार ं ।पहे भी

ैार े ी ,य । । है। रो ! न दोनों

े -पी । नीं है।

- बन्! प े ो । ैार ि र ो ान्त

? ।प े लो ान्त ैर ि र ो ान ?

र--रो ! ो ान ैार ो ान, दो ों

या त्-ोई ी ।

--भगवन्! प े ो ान ैार ि र ।वां

। ान्तर है? इ ादि प्रश र ा।

र--ेरो ! ो ान ैार ातवां व । ान्तर,

यह ेनों प े भी हैं ि ीइ ार ाबत्--रोह!

इ दोनों पहले-पी । नहीं ।इ ी ार

ो ान्त, । ंतनुवा , ी ार धनवात, धनोदधि

और तवीं थ्वी।इ ार ाथ ो ान्त

को नि ि त स्था ों ाथ जोड़ना चाहिए।

अत्र । ान्तर, वा , घ ोदधि, पृथ्वी, द्वीप, । र, वर्ष, (क्षेत्र), ार ी, ादि वि, अस्ति ाय, य, ., लेश्या, दृष्टि, द न, ज्ञा , ज्ञा, रीर, यो , उपयोग, द्रव्यप्रदेश, ैर पर्याय, था । । पह े है ैर ो ान बाद े े ?

प्रश्न–भ वन् ! ो ान्त पह े ैर वाद्धा ाद े है ?

उत्तर--रोह ! जै े ो ान्त े थ ब स्थानों । योग िया, उ ी प्र ार इ म्बन्ध में भी जानना चाहिए। ैर इ ी प्र ार इन स ानों ो लो ान्त े । भी जोड़ । चाहिए।

श –भ वन्! पह े ातवां अव ाशान्तर ैर फिर ातवाँ वात है ?

उत्तर--हे रो ! इ ी कार ातवें व । ान्तर को पूर्वो े ाथ ोड़ना चा ि ए, इ ी प्र ार वाद्धा झना चाहिए।

प्रश्न–भगवन्! पह े ातवां तनुवात और फिर ातवां घनवात है ?

उत्तर-हे रोह ! यह भी उसी प्रकार जानना, यावत्-र्वाद्धा । इस प्र ार एक-एक । ंयोग करते हुए ौर जो-जो निचला हो उसे ोड़ते हुए पूर्ववत् समझना । यावत्-अतीत और अनागत काल और फिर सर्वाद्धा, यावत्-हे रोह ! इन ें ोई म हीं है ।

भगवन् यह इ ी प्रकार है, हे भगवन् ! यह ी प्र ार है ! ऐसा ह र यावत् विचरते हैं ।

व्याख्या —

भगवान् महावीर के एक शिष्य रोह नामक अनगार थे । संभव है आधुनिक रुचि 'रोह' नाम पंसद न करे । मगर प्राचीन काल मे नाम पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था, जितना काम पर । आज की अवस्था इससे विपरीत है । अब काम की ओर नहीं, नाम की ओर ही ध्यान दिया जाता है । मेरे कथन का आशय यह न समझा जाय कि मै सुन्दर और सार्थक नाम रखने का निरोध करता हूँ । मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि नाम के बजाय काम (कार्य) को प्रधानता मिलनी चाहिए और इसी आधार पर मनुष्य को प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा मिलनी चाहिए । रोह ! कितना सीधा-सादा, संक्षिप्त नाम है ! इस संक्षिप्त नाम के साथ उन्होंने कितनी विशेषताएं प्राप्त की थीं !

यह इन्द्र पूजित महात्मा थे। शास्त्रकार ने इनका जो परिचय दिया ह, वह आगे आएगा। उन्होंने भगवान् से कुछ प्रश्न किये हैं और भगवान ने उनका उत्तर दिया है।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि हमें प्रश्नोत्तर सुनने से और किसी दूसेर की गुणावली श्रवण करने से क्या लाभ है? मगर गीता मे कहा है कि:—

तद्. विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

अर्थात—उस ज्ञान को पोथी से न चाहो, किन्तु नम्र भाव से आत्मा को झुकाकर गुरू से पूछकर, उनकी सेवा करके प्राप्त करो।

आप गाय से दूध चाहते हैं, मगर क्या उसकी सेवा करके चाहते हैं? नहीं यह घोर कृतघ्नता है। इसी प्रकार जो ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं मगर उसके बदले ज्ञान दाता की सेवा नहीं करना चाहते, उनका यह भाव स्वार्थ पूर्ण है। ज्ञान अमृत है। गीता के अनुसार ज्ञान देने वाले को झुक कर और नमस्कार करके ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

आज कल बहुत-से लोग अगर नमस्कार भी करेंगे तो अपनी अकड़ चली गई मानेंगे। उनकी समझ ऐसी है कि

उनकी अकड़ ही उनकी प्रशंसा का कारण है। पर इस अभिमान से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। तत्त्वज्ञान प्राप्त करते समय अभिमान को जूतो की तरह दूर रख देना चाहिए अभिमान का त्याग करने पर आत्मा मे एक विशेष प्रकार की जागृति उत्पन्न होती है। आत्मा विचारने लगता है—हे आत्मन् ! अब कड़ा रहकर तू कबतक ठोकरे खाता फिरेगा ? नम्र बन कर ज्ञान प्राप्त कर ले। इसी मे तेरा कल्याण है।

रोह अनगार ने नम्र बनकर ज्ञान प्राप्त किया था। यह बात प्रकट करने के ही लिए शास्त्र मे रोह अनगार का परिचय दिया गया है। सबसे पहले रोह अनगार के स्वभाविक गुणो का वर्णन किया गया है। वे प्रकृति से ही भद्र थे।

आजकल तो भद्र या भद्रिक का प्रयोग मूर्ख के अर्थ मे होने लगा है। मगर मूर्ख को भद्र या भद्रिक कहना 'भद्र' शब्द का अपमान करना है। भद्रिक पद बड़े-बड़े महात्माओ के लिए प्रयुक्त किया गया है। उसी शब्द को मूर्ख के लिए व्यवहार करना मूर्खतापूर्ण ही है।

'भज्--कल्याणे' धातु से 'भद्र' शब्द बना है। इसका अर्थ है--कल्याणकारी। अच्छे वस्त्र पहनने वाला और ठाठ से रहने वाला पुरुष ही कल्याणकारी नही है, वरन् जिसमें स्वभावतः परोपकार और दूसरों का कल्याण करने का गुण है, वही वास्तव मे भद्रिक कहला सकता है।

कहा जा सकता है कि प्रकृति से इस प्रकार का गुण कैसे आ जाता है ? अगर प्रकृति पर ध्यान दिया जाय तो मालूम हो जायगा कि वृक्ष अपना सारा शरीर परोपकार में क्यों लगा देता है ? वृक्ष को आज तक शत्रु कहते हैं। उसने अपना अंग-अंग लकड़ी, पत्ते, फल, फूल आदि सब कुछ परोपकार के लिए ही अर्पित कर दिया है। वह छाया देता है, फल देता है, ज्यादा कुछ नहीं तो आक्सीजन वायु तो देता ही है, जो मनुष्यों के जीवन का मूल है। जिस प्रकार वृक्ष के साथ बुराई करने पर भी वृक्ष भलाई ही करता है, अर्थात् पत्थर मारने पर भी फल-फूल या पत्ता ही देता है, इसी प्रकार जो मनुष्य स्वभाव से भद्र हैं, वे भी बुराई करने वाले के साथ भलाई ही करते हैं। इसके लिए एक उदाहरण दिया जाता है:—

एक राजा प्रकृत्ति का भद्र था। उसका स्वभाव ही यह था कि वह प्रत्येक दशा में दूसरे का कल्याण ही करता था। कल्याण करने की भावना रखने वाले के पास दूसरे के कल्याण की वस्तुएं उसी प्रकार रहा करती हैं, जिस प्रकार शिकारी अपनी बंदूक भरी हुई र ता है कि कोई शिकार मिले और मारूँ।

वह राजा प्रकृति का भद्र था। एक दिन वह जंगल की रचना देखने के लिए जंगल की ओर निकल पड़ा। जंगल की स्वच्छ वायु और जंगली पशु—पक्षियों की रचना देखकर वह

विचारने लगा—हम सद्गुण प्राप्त करने के लिए पुस्तकों के साथ माथापच्ची करते है, मगर सद्गुण इस जंगल मे स्वतः उत्पन्न हो सकते हैं, वह पुस्तकों में कहाँ रक्खे है !

राजा जंगल मे भ्रमण करता-करता दोपहर की धूप से घबड़ा उठा उसने जंगल मे विश्राम करने का विचार किया। वह एक बेर के झाड़ के नीचे विश्राम करने लगा। यद्यपि बेर के झाड़ मे कांटे थे, मगर राजा ने उसकी छाया सुन्दर देखकर वहीं विश्राम किया।

राजा बेर के पेड़ नीचे सोगया। राजा ने अपने साथी पहरेदारो को दूर रहने के लिए कहा, जिससे निद्रा मे व्याघात न हो, पहरेदारों की स्वतंत्रता में बाधा न पड़े और शुद्ध हवा मिल सके। जब राजा सो रहा था तो एक ग्रामीण पथिक उस ओर से निकला। पथिक इतना भूखा था कि उसका पेट पाताल को जा रहा था। वह भूख मिटाने का उपाय सोच रहा था कि उसे बेर का पेड़ नज़र आया। पथिक ने सोचा--बेर के फलों से ही भूख कुछ शान्त हो जायगी।

पथिक ने देखा—पेड़ फलो से लदा है। उसने सोचा—पेड़ के पास पहुँचने पर फल गिराऊँगा तो छ देर लगेगी ही, इस लिए यहीं से लकड़ी फैंक दूँ। उसने पेड़ मे जोर से लकड़ी मारी

वहुत से फल नीचे आकर गिरे। वृक्ष से फल तो गिर गये मगर लकड़ी नीचे गिर कर राजा को लगी। बेर और लकड़ी लगने से राजा की नींद खुल गई। राजा उठ बैठा।

पथिक अभी तक वृक्ष के ऊपरी भाग को ही देख रहा था। फल गिरने के समय उसने देखा कि मेरी लकड़ी राजा को लग गई है। पथिक भय के मारे कांपने लगा। उसने कहा—महाराज, क्षमा कीजिए। मैंने आपको नहीं, वृक्ष को लकड़ी मारी थी। भूल से आपको भी लग गई। मैं भू से व्याकुल था। इसी कारण बेर ना चाहता था। आपके उपर मेरी निगाह नहीं पड़ी।

इतने मे पुलिस आ धमके। वे बात को घटाने क्यो लगे? खैर ख्वाही जताने के लिए उन्हो ने ववंडर ड़ा कर दिया। वे उसे पकड़ने के लिए झपटे। पथिक भागा। राजा ने कहा—इसे मारो मत। पकड़ कर मेरे पास ले आओ। राजा ने पथिक से भी कहा—भाई, तू डर मत। तू मेरा परिचित है। आखिर पथिक विवश था। भाग कर भी पकड़ मे आता ही। यह सोचकर उसने कहा—अच्छा, चलो, मैं राजा के पास चलता हूँ।

सिपाहियो के साथ पथिक राजा के पास गया। उसने विनय करते हुए कहा—हुजूर! आप मारना चाहे तो भले मारिये मगर मैंने आपको जान बूझ कर लकड़ी नहीं मारी।

राजा ने अपने साथ के जांची से लेकर उसे एक खोबा (अंजुली) भर रुपये दिये। जांची भौंचक रह गया। लकड़ी मारने का इतने रुपये इनाम ! अगर लोगो को यह बात मालूम होगी तो गजब हो जायगा। इसे अधिक सज्जा नहीं तो गफलत की सज्जा अवश्य मिलनी चाहिए। राजा ने कहा--कानून के अनुसार तुम्हारा कहना ठीक है लेकिन मैं कानून से उच्चतर नीति का अवलंबन करना चाहता हूँ। मैं तुम्हारा जमा--खर्च करवा देता हूँ लिखो--एक गरीब ने बेर वृक्ष पर लकड़ी फैकी लकड़ी ाकर उस वृक्ष ने गरीब को बहुतेरे फल दिये। परन्तु लकड़ी राजा पर गिर पड़ी। वृक्ष राजा को चेतावनी देता है कि--मैं भी गरीब को भूखा नहीं रहने देता, तो तू राजा हो कर के भी गरीब को भू ा कैसे र सकता है? गरीब को भूखा रखने वाला राजा कैसा ! इस चेतावनी के मिलने पर भी राजा अगर गरीब को भूखा रखता है। तो उसका विरूद जाता है। इस लिए राजा ने गरीब को इनाम दिया।

इसे कहते है प्रकृति--भद्रता ! यह भद्रता पोथियाँ पढ़ने से नहीं आतीं। प्रकृति के सांनिध्य में बसने वाले ही इसे प्राप्त करने का सौभाग्य पाते है।

रोह अनगार प्रकृति से भद्र होने के साथ प्रकृति से मृदु थे मृदु का अर्थ है कोमल। जो पुरूष द्राक्ष की भाँति बाहर--भीतर

कोमल होता है, उसे प्रकृतिमृदु कहते हैं। मतलब हे पर मृदुता प्रकट करना और मतलब निकल जाने पर अपना असली रूप प्रकट करना मृदुता नहीं है। यह मायाचार है प्र की मृदुता का उदाहरण श्रीकृष्ण के चरित्र में भी दिखाई पड़ता है। जरा-जीर्ण बूढ़े की ईंट उठाना उनका प्राकृतिक मृदुता का प्रमाण है।

रोह अनगार प्र ति से भद्र और मृदु थे, अतएव प्रकृति से विनीत भी थे। जो प्रकृति से भद्र और मृदु होगा वही विनयी भी होगा। इन मे आपस में कार्य कारण भाव संबन्ध है। विनय कार्य है र भद्रता एवं मृदुता उसका कारण है।

विनयति-निराकरोति अष्ट प्रकारं कर्म, विनयः। अर्थात् जिसके द्वारा आठ प्रकार के दूर किये जाते हैं, उसे विनय कहते हैं। जैसे को मिट्टी या राख बर्तन को साफ कर देती है, उसी प्रकार विनय आत्मा को निर्मल बना देती है श में कहा है।

धम्मस्स विण ो मूलं

र्थात्—धर्म मूल विनय है—

अन्य लोग कर्म ना का कारण भा मानते हैं, परन्तु जैन धर्म विनय को कर्मनाश का कारण कहता है।

विनीत – नम्र होना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। कई लोग सोचते हैं—नम्र रहने से पर कद्र नहीं होगी, मगर यह भ्रम है। स्वार्थ-साधन के लिए दीनता या नम्रता दिखलाना दूसरी बात है, मगर निःस्वार्थ भाव से नम्र होने पर कदापि बेकद्री नहीं हो सकती।

रोह अनगार के क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कपाय पतले पड़ गये थे अगर उनके क्रोध आदि का सर्वथा क्षय हो गया होता, तब; तो वे भगवान् से प्रश्न ही न करते अर्थात् वे स्वयं सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा बन जाते। अतः क्रोध आदि उनमें विद्यमान तो था, मगर उसे वे सफल नहीं होने देते थे; और वह बहुत हल्का पड़ गया था।

रोह अनगार ने 'अहं' प्रकृति पर भी विजय प्राप्त कर ली थी। संसार मे जहाँ देखो, अहंकार का झगड़ा चल रहा है। अहंकार ने हा हा कार मचा रक्खा है। न जाने कितने संहार अहंकार के कारण हो रहा है! लेकिन हे जीव जिसके लिये 'मै' कहता है, उससे क्यो नही पूछता कि वह तेरे 'मे' का समर्थन करता है या नही? अगर वह समर्थन नही करता तो तू उसके लिये क्यो 'मैं-मै' कर रहा है? तू घड़ी को अपनी कहता है, मगर घड़ी से तो पूछ देख कि वह तुझे अपना कहती है या नही? अगर वह नही कहती तो तू क्यों उसे अपनी मान बैठा है! इस

प्रकार के विचार से अहंकार और ममकार छूट जाते हैं और आत्मा में अपूर्व शान्ति का प्रादुर्भाव होता है।

रोह अनगार ने अहंकार को जीत लिया था। गुरु का उपदेश पाकर उन्होंने अहंकार को गला दिया था। वास्तव में सच्चा साधु नहीं है, जो अहंकार को जीत ले।

रोह अनगार प्रकृति से ही अलीन थे। अंलीन का अर्थ है। गुरु समाश्रित। अर्थात गुरु का उन्होंने पूर्णरुपेस आश्रय लिया था। वे गुरु पर निर्भर थे। सब प्रकार से गुरु की सेवा भी करते थे।

सब धर्मशास्त्र कहते हैं कि महात्माओं की सेवा से ही तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति होती है। पुस्तकें उस ज्ञान की झांकी भी नहीं दिखा सकतीं। ऊपर गीता का उदहारण देकर भी यही बात बतलाई गई है।

कई लोगों को शंका-समाधान करने में झिझक होती है और कई-एक को पूछने की इच्छा ही नहीं होती। अनेक लोग समझते हैं कि हमने पुस्तकें पढ़ ली हैं, धर्म-अधर्म आदि सब ढोंग है। हम इस ढोंग में क्यों पड़ें? इस प्रकार विभिन्न विचारों से प्रेरित होकर लोग प्रश्न नहीं करते छ शायद ऐसे भी होंगे जो सोचते होंगे कि कहीं प्रश्न पू ने से गुरुजी गुस्सा हो गये तो क्या होगा! कु लोग अभिमान से प्रश्न

नहीं पूछते और कुछ अज्ञान से। मगर वास्तव में देखा जाय तो यह सब कल्पनाएँ मानसिक दुर्बलता का परिणाम हैं। प्रश्न करने से, लाभ के सिवा हानि कुछ भी नहीं है। अगर कोई अपने संचित ज्ञान के खजाने को लुटाना चाहता है तो लूटने में तुम्हारी हानि ही क्या है? तुम्हें अनायास ही जो निधि प्राप्त हो सकती है, उसके लिए भी तुम नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प करते हो! यह तुम्हारे लिए दुर्भाग्य की बात नहीं तो क्या है? हाँ, प्रश्न करो, मगर उसमें- उद्दतता नहीं, नम्रता हो, जिगिषा नहीं जिज्ञासा हो।

इस प्रकार अनेक गुणों से विभूषित आर्य रोह अनगार ऐसे स्थान पर बैठे थे, जो भगवान् से बहुत दूर नहीं था।

गुरु की दृष्टि में रहना कच्छपी भक्ति है। कहा जाता है कि कछुआ अपने अंडों को दृष्टि से पालता है। इसी प्रकार भ या शिष्य भी भगवान् या गुरु से इतनी ही दूर बैठता है, जहाँ भगवान् या गुरु की नजर पड़ती हो। गुरु की अमृतमयी दृष्टि से ही शिष्य को आनन्द रहता है। व्यवहार में कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति पर मेरी नजर है! दृष्टि मे रहने से भी बड़े बड़े अनर्थ टल जाते हैं।

रोह अनगार भगवान् से अदूर और गोदुहासन से बैठे थे।

उनके दोनों घुटने ऊपर सिर नीचे था। र्थात् वह पे बैठे जैसे गौ हने गुवाल बैठता है।

गोदुहासन बैठे हुए अनगार रोह ध्यान के कोठे में तल्लीन हो रहे हैं और तत्त्व-विचार करके अमृतपान कर रहे हैं।

रोह अनगार तप और संयम में विचरते । संयम, जीवन की दिव्य है। जिस आत्मा को यह प्राप्त हो, उसका प्रभाव अपूर्व और अद्भुत हो जाता है। संयम, के बिना निभ नहीं सकता। म और तप आत्मा को मो पहुँचाने वाले रथ के दो पहिया हैं। अथवा यों कहिए कि यह दोनों धर्म—रथ के दो पहिया हैं।

रोह अनगार जब ध्यान के कोठे में तल्लीन होते हुए तप संयम में विचरते थे, उस समय वे जात संशय हुए। जात संशय आदि पदों की व्याख्या प्रथम उद्देशक के प्रारंभ में की जा चुकी है। वही व्याख्या यहाँ भी मझ लेना चाहिए।

रोह अनगार के मन में यह पश्न उत्पन्न आ कि पहले लोक है या पहले अलोक है? अथवा इन दोनो मे कौन पहले और कोई पी है? इ प्रकार का प्रश्न उत्पन्न होने पर रोह अपने न से उठे और भगवान् महावीर के सन्निकट उपस्थित हुए। उन्होने तीन वार भगवान् को प्रदक्षिणा की और कि ।

वन्दना–नमस्कार करके रोह अनगार ने भगवान् से पूछा– भगवन् ! मैंने आप से लोक और अलोक दो पदार्थ सुने हैं परन्तु मै यह जानना चाहता हूँ कि पहले लोक है या अलोक ? पहले लोक बना है या अलोक बना है ?

जैसे 'आत्मा' शब्द असमस्त (समास–रहित) है और 'अनात्मा' शब्द उसके निषेध से बना है, इसी प्रकार 'लोक' भी असमस्त पद है और 'अलोक' उसके निषेध से बना है। समास वाले पद के वाच्य पदार्थ में संदेह भी हो सकता है, परन्तु असमस्त पद का वाच्य पदार्थ अवश्य होता है। उसमें संदेह के लिए अवकाश नहीं है ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि समास—रहित कोई पद हो, मगर उसका अर्थ न हो।

अगर लोक और अलोक में से किसी भी एक को पहले बना हुआ माना जाय तो दोनो की आदि होगी। तो क्या यह दोनों सादि हैं ? इन्हे किसी ने बनाया है।

रोह के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया–हे रोह ! लोक और अलोक पहले भी है और पश्चात् भी हैं। इन दोनो में पहले–पीछे का क्रम नहीं है। जैसे गाय के दो सींगो मे और मनुष्य के दो नेत्रो में पहले-पीछे का कोई क्रम नहीं है, उसी प्रकार लोक और अलोक मे भी पूर्व—पश्चात् की कल्पना नहीं

हो सकती। यह दोनों शाश्वत हैं। अगर किसी के द्वारा यह बनाये गये होते तो इनमें किसी प्रकार का क्रम संभव होता; मगर यह बने नहीं हैं। अतएव इनमें आनुपूर्वी (क्रम) नहीं है। जैसे 'दाहिनी आँख' कहने पर बाईं आँख भी अपने स्थान पर ही रहती है, मगर दो शब्दों का उच्चारण एक साथ नहीं हो सकता, इसलिये किसी एक को पहले और दूसरी को पश्चात् कहते हैं, परंतु आँखों में वस्तुतः आगे-पीछे का कोई भेद नहीं है। यही बात लोक और अलोक के विशय में भी समझनी चाहिये।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रोह मुनि ने पहले लोक-अलोक के विषय मे ही क्यों प्रश्न किया है? असल मे क्षेत्र आधार है। आत्मा का संबंध क्षेत्र से है। कोई कहीं भी जाए, पहले यही पूछा जायगा कि—आप कहाँ रहते हैं? इसके पश्चात् ही अन्य बाते पूछी जाती हैं। तदनुसार रोह ने भी सर्वप्रथम लोक अलोक के विषय में प्रश्न किया है।

लोक और अलोक में यही अन्तर है कि लोक में पंचास्तिकाय हैं और अलोक में केवल आकाश ही है। लोक में जितनी भी वस्तुएं हैं, जीव और अजीव मे सब का समावेश हो जाता है।

तत्पश्चात् आर्य रोह पूछते हैं—भगवन्! पहले जीव हैं या अजीव?

किसी-किसी का कथन है कि जीव, जड़ से उत्पन्न हुआ है। पंच भूतों के मेल से जीव उत्पन्न हो जाता है। लेकिन ऐसा मानने से जीव की आदि ठहरती है और यह भी मानना पड़ता है कि पहले जड़ और बाद में जीव बना है।

किसी का मन्तव्य यह है कि—ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी कोई भी सत्ता नहीं है। सारे जगत् में एक ही वस्तु है—ब्रह्म, और कुछ भी नहीं है—'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति'।

इस प्रकार जीव और अजीव के विषय में नाना मतभेद होने के कारण रोह ने प्रश्न किया—भगवन्! इस विषय में आप क्या कहते हैं? रोह के प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया—हे रोह! ऐसा प्रश्न ही नहीं हो सकता, क्योंकि जीव और अजीव-दोनों ही शाश्वत भाव हैं। लोक—अलोक के विषय में जो उत्तर दिया गया है, वही उत्तर यहां लेना चाहिये।

भगवान् कहते हैं—मैं अपने ज्ञान से प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, मगर तुम्हारी श्रद्धा भी उस तत्व को आंशिक रूप में ग्रहण कर सके, इस अभिप्राय से कुछ और समझता हूँ।

यह, यह मान लिया जाय कि जड़ पहले और चेतन बाद में हुआ, तो चेतन आत्मा बनावटी और नाशवान् ठहरेगा। अगर कोई जीव को बनावटी और नाशवान् भी कहे तो यह अथन

मिथ्या है जीव उत्पत्ति तर्क से त नहीं है। इसे सिद्ध नहीं कर कती है।

प्र क प्राणी को 'अहं प्रत्यय' र्थात् 'मैं' ऐसा ज्ञान हो है; यह त तः सिद्ध है। अब प्रश्न यह है कि 'मैं' कहने वाला ौर 'मैं' को जानने वाला कौन है? लोक में यह भी कहा जाता है—'मेरा रीर।' र्थात् मैं शरीर नहीं मेरा रीर। यहां शरीर को अपना कहने व कौन है? यह संभव है कि शरीर तो हो गर रीर को प वत ने व । कोई न हो? 'मेरा शरीर' यह कथन रीर और शरीरी को अलग- ग वत रहा है। से 'मेरा घर' इ कथन से घर अलग और घर वाला ग, मालूम होता है, इ प्रकार 'मेरा रीर' इ कथन भी रीर और रीर मालिक अलग- ही प्रतीत होता है। इस त्त प्रमाण न । और तर्क का सहारा लेना तक ठीक हो है।

र यह कहा जाय कि चैतन्य में अनन्त शा है, इ लिए उ मानकर, ज की उत्पत्ति मान ाय तो क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि अगर यह मान लिया जाय कि पहले जी था और फिर उससे जड़ बना तो इसका मतलब कि जीव ही . हो गया। मिट्टी से . ा बनता है, इसका र्थ यह है कि मिट्टी ही घड़ा रूप हो जाती है। इ ी

प्रकार ब्रह्म से अगर जड़--जगत् की उत्पत्ति मानी जाय तो ब्रह्म ही जड़ हो गया, ऐसा मानना पड़ेगा।

अगर ब्रह्म को ही जड़ मान लिया जाय और सारे संसार की रचना उसी से मानी जाय तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि चिदानन्द अपने स्वरूप मे था, तब उसे जड़ रूप बनने का क्या हेतु हुआ ? ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप मे मौजूद था, उसे सृष्टि रूप मे उत्पन्न होने की क्या आवश्यकता पड़ी ? इस के अतिरिक्त, सृष्टि को बना कर फिर उसे ब्रह्मरूप मे ले जाने के उपदेश की क्या आवश्यकता है ? ईश्वरीय माया ने इस सृष्टि की रचना की है, तो जब ईश्वर अपनी माया का उपसंहार करेगा, तभी सृष्टि ब्रह्म मे जा सकेगी। तभी वह या उसका कोई भी अंश कैसे ब्रह्मरूप हो सकता है।

लोग कहते हैं, परमात्मा की इच्छा हुई कि चलो संसार बनाएँ, सो उसने संसार बना डाला। लेकिन वीतराग को भी कभी इच्छा हो सकती है ? जो निरंजन, कहलाता है, उसे भी इच्छा हो और वह भी विचित्र-विचित्र प्रकार की हो, यह कैसे संभव है ? कोई संत--महात्मा भी नहीं चाहते कि जगत् का कोई भी जीव दुखी हो, तो फिर सैकड़ो दुखों से परिपूर्ण सृष्टि ईश्वर कैसे रचेगा ?

कई वेदान्ती भी ईश्वर में इच्छा स्वीकार नहीं करते स्वामी रामतीर्थ ने अपने एक व्याख्यान मे कहा है कि—कल्पना कीजिए,

एक बादशाह ने अपने पांच नोकरों को भिन्न–भिन्न काम बतलाया। नौकरों ने बादशाह के आदेशानुसार काम कर दिया। जब वे काम करके बादशाह के पास आये, तब बादशाह को क्या करना चाहिये? क्या बादशाह एक को कारागार और दूसरे को पुरस्कार दे? क्या वह एक का सत्कार और दूसरे का तिरस्कार करे? अगर बादशाह ऐसा करता है तो कौन निष्पक्ष विचारक यह नहीं कहेगा कि बादशाह अन्यायी है। पहले तो आ । देकर काम करवाता है, फिर के लिए दंड देता है! अगर बादशाह ने उन्हें स्वेच्छानुसार काम करने के लिए रक्खा होता और उन्हें काम करने की स्वतन्त्र दी होती, और तब उनके कामों की जांच करके निग्रह-अनुग्रह किया होता, तब तो पाँच काम करने वालों में से किसी को दंड र किसी को पुरस्कार देना उचित भी कहा जा कता । किन्तु स्वयं करवा कर किसी को दंड और किसी को पुरस्क देना किस प्र र न्यायसंगत हो सकता है? इसी प्रकार र स्वेच्छापूर्वक काम करने वाला होता, तब तो अपने अपने क के अनुसार भिन्न–भिन्न फल भोगना उचित कहलाता परन्तु ोग तो यह कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा और आ के वि । एक पत्ता भी नहीं हिल कता! अगर ऐसा है और सभी जीव जो कुछ भी करते हैं, वह ईश्वर की ही प्रेरणा से करते हैं, और फल देने वाला भी ईश्वर ही है, तो फिर ईश्वर को उसी की प्रेरणा से किये ए काम का क्या फल देना चाहिए? वह फल

बुरा तो नहीं ही ह चाहिए। यदि व को समान फल मिलता तो कदाचित यह जाना जाता कि जीव जो कुछ करता है, वह व एक ईश्वर की । और इच्छा के अनुसार ही करता है। किन में ब त विचित्रता देखी जाती है, अतएव यह कैसे जा सक ह।

व्याकरण में क ा को स्वतन्त्र माना गया है। पा नि हते हैं—' तन्त्रः कर्त्ता।' कारक का विचार करने में मुख्यतया कर्त्ता, कर्म और क्रिया का विचार होता है। व्याकरण में कहा ग है कि कर्त्ता वह है, जो स्वतन्त्र होकर क्रिया करने वाला हो-स्वेच्छा से क्रिया करे। अगर जीव से ईश्वर ही क्रिया करवाता है तो जीव कर्त्ता कैसे ठहर सकता है? क्योंकि वह तो ईश्वराधीन है। ऐसी हालत में क्रिया का दंड या पुरस्कार जीव को क्यों मिलना चाहिए?

अब आप यह कह सकते हैं कि जब कोई भी वस्तु कर्त्ता के बिना नहीं होती, तो फिर संसार का भी कोई न कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिए। क्या जैन श का यह मंतव्य है कि चीज बिना बनाये भी बन सकती है? इसका उत्तर यह है कि जैनधर्म कर्त्ता मानता है और आत्मा को स्वतंत्र कर्त्ता मानता है। लिखे हुए अ र देख कर आप सोचेंगे, यह अक्षर किसी ने लिखे हैं। मगर किसने लिखे हैं, इस प्रश्न का उत्तर है—

८ लिखे ॰ ! ई यह ह कता है कि म ` लिखे गये हैं। लेकिन प्रश्न लिखने वाले का है। कलम स्वयं नहीं लिखती। और दूसरी बात यह भी है कि कलम को बनाने वाला कौन है ? कलम आखिर आत्मा ने ही तो बनाई है ! अब ` कल ॰ का चलन नहीं रहा, होल्डरों का चलन हो गया है। ोल्डर कारीगर ने बनाया है, मगर उसका लोहा किसने या है ? एक कहता है– ोहा ईश्वर ने ाया, मगर वास्तव में लोहा ने बा भी आत्मा है। लोहा खदान में था। खदान में पृथ्वी- के जीव थे। उन्हों ने ` हा बनाया ार वह लोहा कारीगर के हा ॰ गया। इस प्रकार लोहा भी आत्मा ने ही बनाया है।

जैन धर्म पृथ्वी में भी आत्मा मानता है। पृथ्वी स्वयं त्मा नहीं है, किन्तु पृथ्वी रूप शरीर धारण करने वा जीव-आत्मा है। वह ात्मा स्वतंत्र रूप में पुद्गलों को अपने में खींच है। जैसे आत्मा ही दूध पीता है और आत्मा ही उसे -भाग एवं रसभाग आदि में परिणान करता है, फिर भी कई लोग यह काम भी ईश्वर का बतलाते हैं, इसी प्रकार लोहा भी आत्मा ने बनाया है, किन्तु ोग उसे ईश्वर का बनाया हुआ मानते हैं। ईश्वर के पर किसी प्रकार की जवाबदारी डालना, अपनी जवाबदारी से छूटने का प्रयत्न करना है। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर पर एक बात का आरोप करने से अनेक आरोप करने पड़ेंगे।

कई लोगों का ऐसा कथन है कि जीव कर्म करने में तो स्वतंत्र है, मगर फल ईश्वर देता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अगर एक आदमी ने चोरी की या दुराचार किया तो उस ने यह नया कर्म किया है या पुराने कर्म का फल भोगा है? अगर यह माना जाय कि नया कर्म किया है तो जिसका धन या शील गया, उसके लिए तो प्राचीन कर्म का फल-भोग ही हुआ? अगर ऐसा न ना जाय तो प्राचीन कर्म का फल ही नहीं होगा। र यह कहा जाय कि चोरी या व्यभिचार करने का कार्य ईश्वर ने प्राचीन कर्म के फल का भोग कराने के लिए करवाया है, तो इस अर्थ यह आ कि ईश्वर ने चोरी या व्यभिचार का कार्य करवाया है। गी में कहा है—

> न कर्तृत्वं न कर्माणि, न लोकस्य सृजति प्रभुः।
> न कर्मफलसंयोगं, भावस्तु प्रवर्त्तते ॥

व में ईश्वर कर्त्ता नहीं है और न कर्म का फल देने व । है। यह वस्तु-स्वभाव से होता है।

इस प्रकार न जड़ से चेतन की और न चेतन से जड़ की उत्पत्ति होती है। इसी कारण रोह अनगार ने भगवान् से प्रश्न किया है—प्रभो! पके न में क्या प्रतिभासित हो रहा है?

विषय का विस्तृत विवेचन न्यायग्रन्थों में किया गया है। कार उसका मूल तत्त्व ही प्रकट करते हैं।

ह के प्रश्न का भगवान् ने उत्तर माया-हे रोह ! यह हीं कहा जा सकता कि जीव से अजीव की या अजीव से जीव की त्पत्ति ई है। यह दोनों ही पदार्थ अनादि हैं।

ानिक कहते हैं-हमारी दृष्टि अपूर्व है, इसी कारण हम किसी वस्तु । श होना कहते हैं, परन्तु वास्तविक रूपसे देखा जाय कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती। केवल उसकी अवस्थाएँ पलटती हैं। जली ई मोमबत्ती के विषय यह समझा जाता है कि वह नष्ट हो गई, परन्तु मोमबत्ती वस्तुतः नष्ट नहीं होती, सिर्फ उस की शकल बदलती है। उसका संग्रह बिखर जाता है। सुना जाता कि व ानिको ने ऐसे आकर्षक यंत्र बनाये हैं, जिन्हें जलती ई मोमबत्ती के इधर-उधर रख देने से, जली हुई मोमबत्ती के परमाणु उन यंत्रों में खींच कर आ जाते हैं, और अगर उन्हे फिर मिला दिया जाय तो जैसी की तैसी मोमबत्ती तैयार हो जाती है।

जल के विषय में भी यही बात है। साधारणतया यह समझा जाता है कि जमीन पर गिरा हुआ जल सूख कर नष्ट हो जाता है, परन्तु विज्ञानवेत्ता कहते हैं कि वह नष्ट नहीं ,
ि न्तु दो प्रकार की वायु थी, जो बिखर गई है। आक्सीजन

और हाइड्रोजन नामक दोनों हवाओं से जल बनता है और दोनों के बि रने जल नहीं रहता।

मेरी कारेली नामकी एक पाश्चात्य विदुषी ने लि । था—जब एक रजकण का भी नाश नहीं है, उसका भी सि रूपान्तर ेता है, तो महाश का, जो संसार मे गजब कर रही है, हो है? उसका नाश होने से तो गजब हो जा ।। रजकण र मे ी भी नहीं है, तो कैसे हो सकता है?

भगवान् कहते हैं—हे रोह! जड़ चैतन्य बना हो चैतन्य से जड़ बना हो, यह संभव नहीं है। जैसे आकाश के फूल नहीं होते, इसी प्रकार निराकार ाकार र कार से निरा- की उत्पा नहीं है। जो लोग भूतों चैतन्य की उत्पत्ति मानते हैं, उन्हें विचारना चाहिए कि किसी भी भूत में चैतन्य नहीं जाता, उनसे चैतन्य कैसे उत्पन्न हो है? एव जड़ और जीव-दोनों अनादि हैं, यही मा । सं है।

अब प कह सकते हैं कि आपने जीव और जड़ दोनों को नादि बतलाया है, र वेदान्ती तो ब्रह्म के अति अन्य किसी पदार्थ की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। इस विषय में आप क्या कहते हैं? इस संबंध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि

यदि पूरी तरह गाया ेे ैरे
पदा ों की । भी अवश्य प्रतीत होगी । इ बंध ें भी
यथ ें विस्तृ। विवेचना की गई है । विशेष जिज्ञासुओं
ो ँ देखना चाहिए ।

गी ें अश्वत्थ त ।क वैसा ही है,
जै े श ों े ेक का आकार-पुरुषा र-है । श्वत
देते द गी ें क है—

अध ोऊर्ध्वं प्रसृतास्तस्य,

न पमस्येह

हे अर्जुन! यदि मुझ े ार ी अश्वत्थ
हो तो न इ की ादि है, न न्त हैं ंतु यह
दि है ।

गीता ें सार को अनादि कहती है ार भगवतीसूत्र
ो अनादि कह है, ाधुनिक वैज्ञानिक भी यही कहते हैं ।
स्तिक आत्मा का स्तित्व ही स्वीकार नहीं करते, लेकिन कौन
कह सकता है कि आगे चल आधुनिक विज्ञान ही आत्मा का
स्तित्व साबित नहीं करेगा ? और भी आत्मा प्रमाणों
े सिद्ध है ।

भगवान् ने आजकल के विज्ञान से किसी बात को नहीं देखा था। उन्होंने अपने परिपूर्ण ज्ञान में देख कर ही जीव और अजीव को अनादि कहा है। यह भगवान् का बतलाया हुआ बीजमंत्र है।

अब रोह अनगार पूछते हैं—भगवन्! संसार और सिद्धि—यह दो पदार्थ हैं। इन दो से पहले कौन है? पहले सिद्धि है या संसार है? अर्थात् सिद्धि में से संसार निकला या संसार में से सिद्धि निकली है?

यहाँ यदि कहा जाय कि संसार पहले है और संसार से निकल कर (जीव) सिद्ध होते है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि संसार पहले है और सिद्धि पीछे है। अर्थात् संसार पहले हुआ है और सिद्धि पीछे हुई है। गीता भी कहती है कि इस अश्वत्थ रूप संसार का छेदन करके जो निवृत्त हो जाते हैं, वे चिदानन्द रूप होकर सिद्धिक्षेत्र में आनन्द का उपभोग करते है। इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि सिद्ध, संसार से निकल कर हुए हैं, और संसार पहले हैं, सिद्धि बाद मे है। लेकिन भगवान् ने फर्माया कि सिद्धि और संसार दोनों ही शाश्वत है। जब से संसार है, तभी से सिद्धि है और जब से सिद्धि है, तभी से संसार है। सिद्ध हुए हैं संसार से ही, लेकिन संसार की आदि हो तो सिद्धि की भी आदि हो।

आज का दिन वर्त्तमान कहलाता है, गया दिन भूतकाल कहलाता है और आगामी दिन भविष्य काल कहलाता है। यद्यपि गया दिन, आज भूतकाल है, मगर वह वर्त्तमान मे होकर ही गया है। जव प्रत्येक भूतकाल, एक दिन वर्त्तमान था, तो भूतकाल की आदि होनी चाहिए। अगर भूतकाल की आदि नही है तो क्या यह कहा जा सकता है कि भूतकाल, कभी वर्त्तमान रूप में आया ही नहीं? व व मान हुए बिना ही सीधा भूतकाल हो गया? लेकिन य सभी को मालूम कि कल का दिन वर्त्तमान में था। इसी प्रकार वर्ष और सेकड़ों वर्ष वर्त्तमान में आकर के ी भूतकाल बने । इसी प्रकार भविष्य काल में से निकल कर

अंश वर्त्तमान होता जा रहा ह और फिर वह वर्त्तमान, भूतकाल बनता जाता है, फिर भी भविष्य काल का कहीं अन्त नहीं है। वह ज्यों का त्यों अनन्त है। भविष्य की तरह भूतकाल भी अनन्त है। भूतकाल और भविष्यकाल-दोनों बराबर कहे गये हैं। जैसे हाथी दांत की बनी हुई बिना जोड़ की चूड़ी का मध्य, जहाँ उंगली रक्खो वहीं है। इसी प्रकार अगर वर्त्तमान को भूत में मिला लो तो भूतकाल और अगर उसे भविष्य मे मिला लो तो भविष्यकाल भले ही बढ़ जाए, अन्यथा भूत और भविष्य–दोनों बराबर हैं और दोनों ही अनन्त हैं। इसी प्रकार सिद्धि और संसार दोनों ही साथ है और दोनों ही अनादि है।

कई गों को यह का है कि ही निक जीव सिद्ध होते हैं तो कभी न क ली हो जा ।
के कारण गों ने यह मान्यता गढ़ ली है कि जीव एक नियत अवधि तक ही मोक्ष में रह कर ि र र है । मगर यह क । ों के तिरिक्त गीता से ी ि है । में कहा है:—

यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते, तद्धाम परमं मम ।

र्थात्-ज ाँ कर ि र न लौटना पड़े, वही मोक्ष-है ।

सं र के ो जाने की शंका निर्मूल । वि- ष्यकाल, प्रतिक्षण, वर्त्तमान होकर भूतकाल में ि ा जा र भूतकाल फिर कभी भविष्यकाल नहीं बन , तो यह य हो है कि कभी भविष्यका का अन्त हो यगा ?

'न ी!'

'क्यों ?'

'इस लिए कि भविष्यकाल अनन्त ह ।'

इसी प्रकार संसार भी अनन्त है-संसारी णी भी न- न्तानन्त ह । रुपयों की थई जमाते जाओ तो क्या कभी आका का अन्त आ जाय ? रुपयों ने आकाश को घेरा वश्य है, मगर आकाश अनंत है, अतएव उसका कभी अंत नहीं आसकता

े। इसी ंसार से ही होते ं, र
ेने के कारण र भी जीव-शून्य नीं हो क ।

पे रो गार ने प्र े सिद्धि र -
सिि प्रश्न किया ं और बाद में ि द् तथा संसार ।
त पे पहले सिद्धि ौर ं ार ं धी प्रश्नोत्तर का व्याख्या
कि ग , जि े सिद्धिक ोर अभवसिद्धिक का नो-
र रल से म । ै।

रे गार ने किया—भगवन्! पह े भ ि
है अभवसिद्धिक ं ?

ि समें ो कार्य करने की क्षमता है—योग्यता है, वह उस
कार्य के लिए भव्य कह ता है। उदाहरणार्थ- भ मिट्टी े
ड़ा बना है, परन्तु जिस मि ी से घट बन सकता है वही
मिट्टी ट के ि र भव्य है, ौर ि समें बनने की ि
नहीं है, वह घट के ि ए व्य है।

किसी दमी को मि की आवश्यकता है। वह सोचता
है—लक ी में अग्नि है। मगर कोई लकड़ा आग के लिए भव्य
है, कोई भव्य है। अर्थात् जिस लकड़ी को घिसने से आग
उर होती है, वह ग के लिए भव्य है, और जिसे घिसने
भी आग नहीं उत्प होता, वह ी आग के लिए भव्य

है। अरणि की लकड़ी घिसने से अग्नि उत्पन्न होती है, वह अग्नि के लिहाज से भव्य है:

आम आदि की लकड़ी इस दृष्टि से अभव्य है।

मतलब यह है कि जिस वस्तु मे जिस कार्य की सिद्धि की क्षमता है, वह उस कार्य के लिए भव्य है। अभव्य इससे विपरीत है।

यहाँ सिद्धि की दृष्टि से भव्य-अभव्य का विचार किया गया है।

मगर सिद्धि का अर्थ इस जगह अणिमा, महिमा, गरिमा आदि आठ सिद्धियाँ नहीं समझना चाहिए, किन्तु समस्त पर-भावों से अतीत होकर, समस्त उपाधियों से रहित होकर तथा विगतदेह होकर आत्मा जो अवस्था प्राप्त करता है, वह अवस्था सिद्धि कहलाती है। जिस अवस्था से आत्मा को पुनः पुनः जन्म-मरण करना पड़ता है, उसे असिद्धि 'संसार' कहते हैं।

रोह ने भगवान् से सिद्धि और असिद्धि के संबंध में प्रश्न किया—इन दोनों में से पहले कौन है और पीछे कौन है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् फर्माते हैं—यहाँ पहले-पीछे का क्रम नहीं है, दोनों साथ हैं, दोनों शाश्वत हैं। जैसे शरीर में मस्तक और पैर में से कोई पहले-पीछे नहीं साथ ही बने हैं, उसी प्रकार सिद्धि और असिद्धि-दोनों क्रमरहित हैं। पुरुषाकार

लोक में सिद्धि सिर पर है और संसार नीचे है। इसलिए शरीर में जैसे पाँव और सिर थ बने हैं, इन दोनों में पहले-पीछे का भेद नहीं है, इसी शाश्वत सिद्धि और असिद्धि में भी पहले-पीछे का भेद नहीं है, जैसे सिद्धि-असिद्धि में नहीं हैं, उसी प्रकार सिद्धि के योग्य भव्य और सिद्धि के योग्य अभव्यों में म नहीं है। इन में भी कोई आगे-पीछे नहीं है।

रोह अनगार प्रश्न करते हैं—भगवन्! पहले सिद्ध हैं या असि हैं?

साधारण विचार से ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्ध भगवान् संसार से मुक्त होकर ही सिद्धि म करते हैं, अतः पहले असिद्ध और फिर सिद्ध होने चाहिए; परन्तु वास्तविक बात यह नहीं है। समूहतः सिद्ध और असिद्ध दोनों ही अनादि हैं। जैसे यद्यपि भविष्यकाल, वर्त्तमान होकर ही भूतकाल होता है, इसलिए पहले वर्तमान काल और पीछे भूतकाल होना चाहिए, मगर ऐसा नहीं है। तीनों ही काल प्रवाहत अनादि और अनन्त हैं। वेदान्त ने भी, जहाँ वह निष्पक्ष हुए हैं, संसार को अनादि माना है। गीता संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष को अनादि कहती है।

लोक-अलोक, जीव-अजीव, सिद्धि-असिद्धि, आदि का हाल वाले जीवों को प्रत्यक्ष से नहीं दिखाई देता, इसलिए रोह अनगार अब एक ऐसा प्रश्न करते हैं, जो सर्वसाधारण के

लिए भी प्रयत्न है और जिसके उदाहरण से उपर्युक्त विषय भी समझ जा सकते हैं। रोह पूछते ह- भगवन्! पहले मुर्गी है और फिर अण्डा है या पहले अण्डा और फिर मुर्गी है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं-हे रोह! बोलते समय तो कोई भी क्रम बनाया जा सकता है, मगर वस्तु में क्रम नहीं है। अगर पहले अंडा माना जाय और फिर मुर्गी मानी जाय तो म पूछ हूँ-मुर्गी कहाँ से आई ?

रोह—भगवन्! र्गी, अण्डे से आई है।

भगवान्—हे रोह! अण्डा कहाँ से आया ?

रोह—भगवन्! अण्डा मुर्गी से आया है।

भगवान्—तो रोह! मुर्गी और अण्डे में आगे या पीछे किसे कहा जाय ? वस्तुतः न कोई पहले है, न पीछे है। दोनों गे-पीछे का म नहीं है। दोनों प्रवाह से अनादि हैं।

शास्त्रकार कहते हैं कि र्गी और अण्डे के उदाहरण शेष लोक-अलोक आदि का अनादि भाव समझा जा सकता है। यो काल की अपे ा देखा जाय तो मुर्गी, अण्डा नहीं है और अण्डा, मुर्गी नहीं है। मगर वस्तुतः मुर्गी ही अण्डा है और अंडा ही मुर्गी है। इसी प्रकार यः अन्य विषयों में भी यथा-योग्य घटा लेना चाहिए।

अब रोह अनगार सारे लोक हि भगवन् पूछते हैं। वे एक को प्रमाण र, दूसरे प्र बनाते हैं। रोह पूछते हैं—भगवन्! पह लोक का अन्त (किनारा) है, या अलोक का अन्त है? इ के उत्तर मे भगवान् ने हा—हे रोह! इन दोनों में किसी प्र का नहीं हैं। क्रम तब होता, दो में से एक पहले बना हो। ौर दू रा पीछे बना होता। यह दोनों ही शाश्वत हैं, अतएव इनमे नहीं है।

लोक के सात वकाशान्तर माने गये हैं। तएव रोह पूछते हैं—भगवन्! पहले लोकान्त है या पहले सातवाँ अवकाशान्तर है?

यह लोक और ान्तर का प्रश्न है। इसी प्रकार तनुवात, घनवात, ात घनोदधि और त पृथ्वी संबंधी प्रश्न हैं। इन सब में सम्पूर्ण संसार का मावेश हो जाता है।

भगवान् उत्तर देते हैं हे रोह! इनमें आगे पीछे का कोई म नहीं है। यह सब शाश्वत भाव हैं।

इसी प्रकार सातों अवकाशान्तर, सातों तनुवात, सातों घनवात सातो घनोदधि, सातो पृथ्वी, प, सागर, वर्ष—क्षेत्र, नारकी आदि, जीव, अस्तिकाय, समय, कर्म, लेश्या, दृ, दर्शन, न, संज्ञा, शरीर, योग, उपयोग, द्रव्यप्रदेश, पर्याय तथा काल के प्रश्नोत्तर

समझ चाहिए। थात इन को लोकान्त के साथ जोड़-जोड़ कर प्रश्न करना चाहिए कि पहले लोकान्त है या तनुवात है ? इत्यादि। इन के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—यह सब शाश्वत भाव हैं। इनमें आगे-पीछे नहीं है। यह प्रश्न इस प्रकार भी किये जा सकते हैं:—

रोह ने पूछा—भगवन् ! पहले द्वीप है या पहले सागर है ? इसके उत्तर मे भी भगवान् ने फर्माया—हे रोह ! यह दोनों अनादि हैं।

रोह आगे पूछते हैं— के भीतर नर का वास हैं, पहले नरक हैं या नरका वास हैं ? इसका उत्तर भगवान् ने दिया—यह दोनों शाश्वत हैं।

अगर कोई यह पूछे कि पहले नगर बना या नगर के गृह बने ? तो किसे पहले और किसे पीछे बतलाया जा सकता है ? इसी सूत्र में एक प्रश्न किया गया है कि राजगृह नगर किसे कहा जाय ? इसका उत्तर भगवान् ने यह दिया है कि—जीव, अजीव, पृथ्वी, पानी आदि ि राजगृह र कहलाते हैं।

अब रोह पूछते हैं—भगवन् ! पहले न के जीव हैं, मनुष्य जीव हैं; या तिर्यंच हैं अथवा देव हैं ?

इ में विभिन्न दर्शनकार अनेक कल्पनाएँ करते हैं, मगर त में सभी को अनादि पर ही आना पड़ है। कई कहते हैं— का एक भाग ऊपर गया तो ऊँचा लोक हो गया और एक भाग नीचे गया तो उससे नीचा लोक हो गया। लेकिन उनसे जब यह पूछा जाता है कि अंडा कहां से आया ? तब वे गड़बड़ में पड़ जाते हैं। अतएव किसी भी गति के जीवों को पहले या पीछे नहीं कह सकते। सभी जीव अनादि हैं। अगर नरक की आदि खोजने चलेंगे तो समय की भी आदि जनी पड़ेगी। फिर कर्म की भी आदि ढूंढनी होगी कि पहले देव के कर्म हैं, मनुष्य के कर्म हैं, या नारकी आदि के कर्म हैं ? लेकिन कर्म-सामान्य अनादि हैं, इसी प्रकार यह कर्म-विशेष भी अनादि है।

कर्म बिना लेश्या के नहीं होते। योग और कषाय का एकीभाव लेश्या कहलाता है। कषाय के साथ जब तक मन, वचन और काय के योग नहीं मिलते, तब तक वह कषाय है, जब योग और कषाय मिल जाते हैं, तब कषाय ही लेश्या का रूप धारण कर लेता है। जैसे-जैसे लेश्या की शुद्धि होती जाती है, कर्म की भी न्यूनता होती जाती है।

रोह अनगार फिर पूछते हैं—भगवन् ! पहले दृष्टि है या पहले

लेश्या है ? भगवान् ने या—हे रोह ! यह दोनों भी अनादि हैं, इनमें पहले-पीछे का म नहीं है।

इससे ागे दर्शन और धी प्रश्न है। वस्तु के सामान्य धर्म को जानना दर्शन है और विशेष धर्मों बोध होना ान कहल है। रोह ने पूछा—भगवन्! पहले दर्शन है या है ? वान् ने उत्तर दिया—रोह ! दोनों भाव अनादि हैं। इसी प्रकार लोकान्त के ाथ भी इनके प्रश्नोत्तर मझने चाहिए।

तदनन्तर ा का प्रश्न है। संज्ञा, ज्ञान को भी कहते है, मगर यहाँ मोहजन्य तृष्णा का र्थ अपेक्षित है। जैसे-धन हना धनसं है, स्त्री की चाह होना ी सं है, आहार की तृष्णा होना हार सं है।

रोह पूछते हैं—भगवन्! पहले शरीर है या सं ा है ? भग-व फ ते हैं—दो ही दि हैं।

इसी प्रकार ग और उपयोग का प्रश्न है। योग पहले है या उपयोग पहले है, इस प्रश्न के उत्तर में भ न ने दोनों को अनादि ब है और का निषेध किया है।

आत्मा का उद्योग मन, वचन और काय के सहारे होता है। अतएव मन आदि योग कहलाते हैं और आत्मा मूल स्वभाव उपयोग कह ता है।

रोह प्रश्न करते हैं—भगवन् ! अभिमान पहले है या योग प ` है ? उत्तर देते हैं—दो ` ही अनादि हैं।

इन ब को लोकान्त ` । ` र तथा तोकान्त के थ मिल प्रश्न करना। यहां पिछ –पिछला `ड़ते जाना और ागे–आगे का ब े ते चाहिए।

ान् से अपने प्रश्नों का उत्तर नकर रोह अणगार ने 'सेवं ` ! ` भंते !' कहा और – में विचरने लगे।

काच में कोई पदार्थ पूर्णरूपेण नजर नहीं आता। केवल पदार्थ की ाई भर ` ई देती है। फिर भी फोटो `चने का न क्यों किया जाता है ? फोटो में स्थूल प्रतिबिम्ब ही है, र्थ के -दोष नहीं उतरते। फिर भी फोटो उतारने का प्रयास करने का प्रयोजन यह है कि, इससे प्रथम तो कैमरे की शक्ति का विकास ह है, दूसरे नियों के लिये छोटी वस्तु भी बड़ा देती है। नी अपूर्ण ` ` देखकर भी पूर्ण का पता लगा लेते हैं। रोह ने स्वयं कैमरा बनकर भगवान महावीर के अनन्त ान का फोटो उतारने प्रयास किया है। कैमरे का जितना परिमाण होता है, उसी परिमाण में फोटो भी ब । या छोटा उतरता है। लेकिन फोटो भले ही छोटा हो, उसमें पदार्थ की आकृति आ जाती है और उस फोटो से पूर्ण मूल पदार्थ का । गाया जा सकता है। इसी प्रकार रोह के प्रश्नों

के दिये हुए उत्तरों से विदित हो जाता है कि भगवान अनन्त ज्ञानी हैं। रोह समझते हैं कि भगवान का अनन्त ज्ञान मुझमें नही आ सकता, परन्तु उस ज्ञान का छोटासा फोटो भी अगर मन में रहा तो अनन्त ज्ञान आप ही प्रकट हो जायगा।

अब संक्षेप में यह भी देख लेना चाहिए कि इतने विस्तार के साथ यह प्रश्नोत्तर क्यों किये गये हैं? इस संबंध में टीकाकार कहते हैं--शून्यवादी लोगों का कथन है कि हमें संसार में जो कुछ भी दिखलाई पड़ता है, वह सब भ्रान्ति है। वास्तव में वह कुछ भी नहीं है। न कोई दिखाई देने वाला है, न देखने वाला है, न देखता है। कहीं कुछ भी नहीं है। जैसे स्वप्न में जो सृष्टि दिखाई देती है, वह भ्रममात्र है, उसी प्रकार जागृत अवस्था की सृष्टि भी भ्रममात्र है। शून्यवादी इस प्रकार संसार को शून्य-रूप बतलाते हैं, मगर रोह और भगवान् के प्रश्नोत्तरों से यह सिद्ध किया गया है कि जगत् को एकान्ततः शून्यरूप मानना मिथ्या है। स्वप्न में भी वही वस्तु दिखाई देती है जो वास्तव में होती है। चाहे वह किसी भी काल में, किसी भी देश में देखी या सुनी हो, मगर उसके हुए विना उसका स्वप्न नहीं दिखता। ऐसी अवस्था में शून्यवाद सिद्ध नहीं होता।

कई लोग, लोक को बनावटी मानते हैं। उनके कथना-नुसार ईश्वरने लोक का निर्माण किया है। परन्तु विचार करने से इस कथन की निस्सारता प्रतीत हो जाती है। अपनी नम्रता

और ईश्वर की ह प्रदर्शित करने लिये ऐसा कहना दूसरी है। जैसे कोई विनीत पुत्र आप धन कमाता है, मगर उसे ा-पिता का ही प्रताप कहता है। जैसे-यह आपकी ही कमाई है। ही प्र से सकी प्राप्ति है। इसी प्रकार ईश्वर की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए ही अगर उसे क ी कहा जाय तो त दूसरी है, लेकिन जैसे कुंभार घड़ा बनाता है, उसी प्रकार ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानना उपहास्यास्पद है ऐसा मानने से ईश्वर में अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। साथ ही यह भी मानना पड़ता है कि प है, फिर है।

होशियार कुँभार वही माना जा है, जिसके बनाये हुए वर्तन सुन्दर और सुडौल हों, मगर ईश्वर की रचना ऐसी नहीं है। कोई मनुष्य बदसूरत है, कोई लूला है, कोई ा है कोई हिरा है, कोई अंधा है, कोई दरिद्र है, कोई अल्पायुष्क है। अगर यह कहा जाय कि जैसा जिस कर्म था, वैसा उसे मिल गया तो ठीक नहीं, ोंकि पहले अकेला ईश्वर ही था, कर्म न थे। जब जीवों के कर्म नहीं थे, तो ि का फल उन्हें मिला? अतएव या तो ईश्वर को कुशल मानना पड़ेगा या र को अनादि मानना पड़ेगा।

सारां यह है कि शून्यवाद और ईश्वरकर्तृत्ववाद आदि का निराकरण करने के लिए रोह ने भगवान् से विस्तार के साथ प्रश्न पूछे हैं। इन प्रश्नोत्तरो द्वारा यह प्रमाणित किया गया है

कि भौतिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों का संयोग अनादि कालीन है।

संसार के लोग कहते हैं–'आपस में लड़ाई' झगड़ा मत करो।' यह 'आपस' क्या है ? यह पूछा जाय तो उत्तर मिलेगा-जिनके साथ विवाह आदि कोई ' ' ध हुआ है, वह 'आपस' के कहलाते हैं। र ज्ञानी बतलाते हैं कि–हे जीव ! थोड़ी देर के लिए ही तू अपनी क्षुद्र बुद्धि को त्याग कर विचार कर। तू अनादिकाल से संसार मे है। सब जीवों के साथ तेरा किसी न किसी प्रकार का संबंध हो चुका है। फिर उन्हें क्यों अपना संबंधी नहीं झता। काल का व्यवधान पड़ने से ही क्या संबंध छोड बैठेगा ?

बड़े परिवार वाला कहता है–अगर मुझसे संबंध रखना हो तो मेरे सभी परिवार वालों से संबंध रख पड़ेगा। इसी प्रकार ईश्वर कहता है—अगर मुझसे संबंध रखना है तो संसार के सभी जीवो से सम्बन्ध रक्खो। अगर सब के साथ संबंध नहीं रख सकते तो फिर मुझसे भी नाता तोड़ना पड़ेगा !

इस प्रकार आर्य रोह और भगवान् के प्रश्नोत्तरों में अनेक रहस्य छिपे हुए हैं। उन्होने `कान्त के साथ ज्ञान आदि का प्रश्न करके आत्मा का सब पदार्थों के साथ संबन्ध प्रकट किया है।

रोह अनगार के प्रश्नो के पश्चात्, गौतम स्वामी प्रश्न पूछते है।

स्थिति



मू पाठ—प्रश्न—'भंते !' त्ति भगवं गोयमे स णं जाव-एवं वय कइविहाणं भंते ! लोय ती प त्ता ?

उत्तर—गो ! अट्ठविहा लोयट्ठिती त्ता । तंज —आगासपइट्ठि वाए, वाय-प ट्ठिए उद ी, उदहिपइट्ठिया पुढवी, पुढविपइ-ि या तसा, थावर प ण । अजी वा, जीव प ट्ठिया । जीवा क पइट्ठिया । अजीवा जीवसंग या । जीवा म्मसं हिया ।

श्न-से केण णं भंते ! एवं वुच्चई अट्ठविहा जाव-जीवा कम्मसंगहिया ?

उ र—गोयमा ! से जहाणामए केइ पुरिसे

बत्थि डोवे , त्थिमाडोवेत्ता उप्पिंसितं बंध ;
बंध । ज्भेणं गंठिं बंधइ, बंध त्ता उवरिल्लं
गंठिं यइ इ । उवरिल्लं देसं वामेइ, उवरिल्लं
दे ं । ेा, उ रिल्लं देसं आउयायस्स पूरेइ,
पूरित्ता उप्पि-सितं बंध , बंधित्ता ज्भिल्लगंठिं
यइ, इ ।, से णूणं गोय । ! से आउयाए
वाउ ायस्स उप्पि वरि े चिट्ठइ ?

' ' । ट्ठइ ।'

से तेणट्ठेणं जाव-जीवा म सं । या ।

से ज । वा के पुरि े त्थि आ ोवेइ,
आ ोवेत्ता ाए ध .बंधित्ता, अत्था - तार
ोरसियंसि उदगंसि ओगा ेज्जा । से णूणं
गोयमा ! से पुरिसे तस्स आउयायस उवरि -
त े ाचिट्ठइ ?

, चेट्ठइ ।

ए । वि । ेयाई ।, जव-
जी । कम्‍ सं हिय ।

स्कृत-छा ।

प्रश्न–'भगवन् !' इति भगवान् गौतमः श्रमणं यावत्-एवम वादीत्–कतिविधा भगवन् !-लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता ?

उत्तर–गौतम ! अष्टविधा लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता । तद्यथा-आकाश प्रतिष्ठितो वातः वातप्रतिष्ठित उदधिः, उदधिप्रतिष्ठिता पृथिवी, पृथिवी-प्रतिष्ठितास्त्रसा. स्थावराः प्राणाः । अजीवा जीवप्रतिष्ठिताः । जीवाः कर्मप्रतिष्ठिताः । अजीवा जीवसंगृहीताः जीवाःकर्मसंगृहीताः ।

प्रश्न–तत् केनार्थेन भगवन् ! एवमुच्यते-अष्टविधा यावत् जीवा· कर्मसंगृहीताः ?

उत्तर–गौतम ! तद् यथानामकः कश्चित् पुरुषो बस्तिमाटोपयति, वस्तिमाटोप्य उपरि तद् बध्नाति, बद्धा मध्ये ग्रन्थिं बध्नाति, बद्धा उपरितनां ग्रन्थिं मुञ्चति, मुक्तवा उपरितनं देशं वमयति, उपरितनं देशं वमयित्वा उपरितनं देशं अप्कायेन पूरयति, पूरयित्वा उपरि तद्

बध्नाति, बद्ध्वा मध्यमग्रान्थिं मुञ्चति, मुक्त्वा तद् नूनं गौतम ! स अप्कायः वायुकायस्य उपरि उपरिमतले तिष्ठति ?

'हन्त, तिष्ठति ।

तत् तेनार्थेन यावत् जीवा कर्मसंगृहीताः ।

तद् यथा वा कश्चित् पुरुषो वस्तिमाटोपयति, आटोप्य कट्यां बध्नाति, बद्ध्वा अस्तधा-ऽतारा-ऽपौरुषेये, उदके अवगाहयेत्, तद् नूनं गौतम ! स पुरुषः तस्य अप्कायस्य उपरिमतले तिष्ठति ?

'हन्त, तिष्ठति ।'

एवं वा अष्टविधा लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता, यावत्-जीवाः कर्मसंगृहिताः

शब्दार्थ

प्रश्न-हे भगवन् ! ऐसा हकर भ वान् ौतम ने श्र ण भ वान् महावीर से यावत्-इस प्रकार हा— हे भ वन् ! लोक की स्थिति कितने प्र ार की कही है ?

उत्तर-हे गौतम ! लो की स्थिति आठ प्रकार की ही है । वह इस प्रकार वायु, ा ाश ाधार पर टि ा है । उदधि वायु आधार पर है । पृथ्वी, उदधि के

ाधार पर ै । त्रस और स्थावर ीव पृथ्वी े हारे हैं । ी , ीव के ाधार पर टि े हैं । जीव, क ै े सहारे ै । जीवों ो जीवों ने सं ह र रख । है और जीवों को मों ने र र । है ।

प्रश्न--भ वन् ! प्रकार हने । क्या हेतू है ि 'लो ी स्थिति ाठ ार ी है और यावत्- ीवों ो ों ने सं ह र र । है ?

उत्तर-हे ौ ! ै े ोई ष च . ी ो ायु े फु ावे । ि र उस । ु बांध दे । के बीच े भा ें ांठ ांधे । ि र । ुह खोल दे ौर उ े भीतर ी वा नि । दे । ि र े पर े (। ी) भा ें पानी भरे । ि र म । मु बंद र दे । फिर उ मस ी बीच ी ां ो द । तो हे ौतम । वह भरा हु । पानी उ हवा े ऊपर ही ऊपर के भाग में र े । ?

'हां, रहेगा ।'

इ लिए में कहता हूं कि यावत् 'कर्मों ने जीवों । संग्रह र रख । है ।

थवा हे ौत ! ोई रुष च ड़े ी उस सक ो हवा ` फु ाकर पनी र पर बांध ले। फिर वह रुष अथाह, दुस्तर और पुरुषा भर से ज्यादा ( जि रुष स्त त डूब जाय, उ से भी अधि ) पानी में प्रवे रे। ो ` ौत ! वह पुरुष पानी ` ऊपरी सतर पर ही रहेगा ?

'हां र ` ।।'

इ ार ो ीरि ^ ठ ार ी ही है, यावत्— मों ने जीवों ो ंगृहित र रक ा है।

ठ ारूय

अब रोह अनगार के प्रश्नो से संबंध रखने वाला प्रश्न गौतम स्वामी पूछते हैं। गौतम स्वामी कहते है-भगवन् ! रोह ने लोक, अलोक आदि के संबंध में प्रश्न किये और आपने उत्तर दिये। परन्तु लोक—स्थिति कितने प्रकार की है ?

इस प्रश्न का भगवान ने उत्तर दिया—हे गौतम ! आठ प्रकार की है।

गौतम स्वामी फिर पूछेत हैं—भगवन् ! आठ प्रकार की कैसे है ?

इस विषय में भगवानने जो निरूपण किया है, उसे जानने से पह ार का रंग मझ लेने की आवश्य है। गौतम स्वामी ने, जिस पृथ्वी पर हम ग ठहरे हुए हैं, उसके विषय में यह प्रश्न किया है। इस पृथ्वी के नीचे सात पृथिवियां और हैं। मगर जिस पृथ्वी पर हम लोग स्थित हैं, वह किस ाधार पर ठहरी है, यही गौतम स्वामी प्रश्न है।

इस विषय में अन्य मतावलम्बी जो कुछ कहते हैं वह गौतम स्वामी को ठीक ठीक नही जँचा, इसी कारण उन्होंने यह प्रश्न किया है।

गों का कहना है कि यह पृथ्वी शेषनाग पर ठहरी है। गर यह कथन मान लिया जाय तो प्रश्न होता है कि शेषनाग किस धार पर ठहरा है ? अगर शेषनाग को कच्छप के सहारे ार कच्छप (कछुवे) को जल पर आश्रित कहा जाय भी प्रश्न समाप्त नहीं होता। आखिर जल किस पर ठहरा है, यह प्रश्न ा ही रहता है। इसके अतिरिक्त जिस शेषनाग के फन पर पृथ्वी ठहरी है, वह कभी तो थकता ही होगा ! अगर वह शेषनाग हजार फन वाला है, इस कारण सम्पूर्ण पृथ्वी ा भार सहन कर लेता है तो दिखाई देने वाले शेषनागों पर सेर-दो सेर वजन तो ठहरना ही चाहिए जब उन पर इतना भी वजन नहीं ठहरता तो यह कैसे माना जा सकता है कि

एक शेषनाग पर इतनी विशाल पृथ्वी, सदा के लिए ठहरी हुई है।

अगर पृथ्वी को गाय के सींग पर ठहरी माने तब भी यही प्रश्न उपस्थित होता है। आखिर गाय किस आधार पर ठहरी है ? इसके सिवा जब एक गाय अपने सींग पर सारी पृथ्वी का बोझ लादे हुए है तो फिर पृथ्वी के ऊपर दिखलाई देने वाली गायों के सींग पर मन-आधा मन वजन भी क्यो नही ठहरता ? जब गाय के सींग पर इतना भी वजन नही ठहरता तो यह कैसे मान लिया जाय कि किसी गाय के सींग पर यह सम्पूर्ण पृथ्वी ठहरी हुई है।

यदि यह कहा जाय कि यह कथन आलंकारिक है। पृथ्वी को सहारा देने वाली शक्ति तो और ही कोई है। तो यह बतलाना चाहिए कि वह शक्ति कौन-सी है ?

शेष का अर्थ कई लोग 'बाकी बचा' करते हैं और कहते है कि पृथ्वी सत्य की शक्ति पर ठहरी है। इस प्रकार कोई-कोई शेषनाग पर, कोई कछुवे पर, कोई गाय के सींग पर और कोई सत्य पर पृथ्वी का ठहरना मानते हैं। परन्तु इन मान्यताओ मे से किसी से भी आधार का प्रश्न हल नही होता।

तब गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे, भगवान् कहते हैं—हे गौतम ! मै आठ प्रकार की लोकस्थिति बतलाता हूं। इस पृथ्वी

के नीचे, सब से पहले आकाश है। वह आकाश किस पर ठहरा है, यह प्रश्न नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश स्व-प्रतिष्ठ है—वह अपने आप पर ही ठहरा रहता है। उसके लिए अन्य आधार की आवश्यकता नहीं होती। आकाश पर वायु है। वायु के दो भेद हैं—घनवायु और तनुवायु। यों जन शास्त्रों मे वायु के सात ला भेद वतलाये गये है, और विज्ञान भी वायु के बहुतेरे भेद स्वीकार करता है, मगर यहाँ सिर्फ दो भेद ही किये गये हैं, क्योंकि यहाँ उन्हीं की उपयोगिता है। आकाश के पश्चात् तनुवात है और तनुवात के पश्चात् घनवात है। तनुवात का मतलब है—पतली हवा। हल्की चीज भारी चीज को धारण कर लेती है, अतः तनुवात पर घनवात अर्थात् मोटी हवा है। घनवात पर घनोदधि अर्थात् जमा हुआ मोटा पानी है। उस पानी पर यह पृथ्वी ठहरी हुई है। पृथ्वी के सहारे त्रस और स्थावर जीव रहे हुए है।

अब यह कहा जा सकता है कि अजीव पृथ्वीरूप यह आकार कैसे बना है? अजीव को कौन धारण करता है? इसका उत्तर यह है कि पृथ्वीकाय के भी जीव हैं। और जीव पर अजीव प्रतिष्ठित है।

जीव सूक्ष्म है और अजीव स्थूल है। लेकिन सूक्ष्म पर स्थूल रहता है, यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है। जो भी विशेष शक्ति है, वह सूक्ष्म में पाई जाती है। इसीलिए शास्त्रकार कहते है कि अजीव,

पर प्रतिष्ठित हैं। जीव कर्म-प्रतिष्ठित हैं अर्थात् कर्म पर अवलंबित हैं। अजीव को जीव ने संग्रह किया है और जीव को कर्म ने संग्रह किया है।

भगवान् ने यह आठ बातें बतलाई हैं। गौतम स्वामी कहते हैं—प्रभो! आपका कथन सत्य है, मगर इसके लिए कोई उदाहरण भी इए, जिससे साधारण शिष्यों का भी उपकार हो! आकाश पर वायु और वा पर पानी ठहरा है, यह बात आप प्रत्यक्ष दे है, परन्तु ऐसा कोई उदाहरण भी बतलाइए, जिससे यह कथन सहज ही समझ में आ जाय।

भगवान् फर्माते हैं—कल्पना करो, कोई पुरुषार्थ में निपुण और बुद्धिमान पुरुष हाथ में चमड़े की मशक लिए हुए है। उस मशक में वह वायु भरे और मशक का ह बाँध दे। फिर बीच मे एक रस्सी बाँध कर मशक की हवा को दो विभागों में बाँट दे। तदन्तर मशक का मुँह खोल कर, एक हिस्से की हवा बाहर निकाल दे और उस खाली हिस्से में पानी भर दे और मशक का मुँह बंद करके, फिर बीच की रस्सी भी खोल दे। ऐसा करने पर एक ही मशक के आधे भाग में हवा होगी और आधे भाग मे पानी होगा। हे गौतम! वह मशक का पानी, मशक मे भरी हुई हवा पर ठहरेगा या नहीं? अवश्य ठहरेगा। हवा सूक्ष्म है और पानी उससे स्थूल है। फिर भी हवा के आधार पर पानी रहेगा नहीं?

गौतम ने कहा—हां, भगवन् ! रहेगा !

इस न्याय से मेरी पहले कही हुई बात सहज ही समझी जा सकती है कि हवा पर पानी रहता है।

अब भगवान् एक दृष्टांत और देते हैं—हे गौतम ! एक चतुर आदमी नदी पार करना चाहता है, परन्तु वह तैरना नहीं जानता. अतएव उसने एक मशक ली, उसमें हवा भरी और उसका मुँह बांध दिया। तदन्तर वह मशक उसने कमर पर या पेट पर मजबूत बांध ली और फिर वह अथाह जल मे गिर पड़ा। अब हे गौतम, वह पुरुष उस मशक पर रहेगा मशक उस पर रहेगी ? गौतम स्वामी कहते हैं—वह पुरुष मशक पर रहेगा।

हे गौतम ! वायु सूक्ष्म है। फिर भी वायु मनुष्य का भार वहन करती है। जैसे इसमें संदेह को अवकाश नहीं, उसी प्रकार गौतम आठ प्रकार की लोकस्थिति मे भी संदेह करने का कोई कारण नहीं है।

वस्तु का समीचीन ज्ञान निश्चय और व्यवहार—दोनों दृष्टियों से होता है निश्चय दृष्टि मे सूक्ष्म से सूक्ष्म बात का भी पता लगाया जाता है। निश्चय दृष्टि से चौहदवे गुणस्थान वाले अयोग केवली भी संसारी ही कहलाते हैं, क्योंकि उनमें संसार का अंश अब भी शेष है। जब व्यवहार दृष्टि से काम लिया

जाता है तो स्थूल बात को देखकर सूक्ष्म को गौण कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ—किसी बगीचे मे आम के वृक्ष अधिक हैं और दूसरे प्रकार के कम है, तो अन्य वृक्षो के होते हुए भी व्यवहार दृष्टि से वह बगीचा आम का ही कहलाता है, क्योंकि उसमे आम्रवृक्षो की अधिकता है। यहां घनोदधि पर पृथ्वी के ठहरने की जो बात कही है, वह इसी पृथ्वी की अपेक्षा से है।

उस पृथ्वी पर रहने वाले त्रस और स्थावर जीवों का व्याख्यान भी प्राय: अपेक्षा से है, क्योंकि सात लोकों को ही पृथ्वी कहते हैं, मगर मेरुपर्वत पर और आकाश पर भी प्राणी रहते है। अत: पृथ्वी पर त्रस-स्थावर जीव रहते है, इस कथन का अर्थ यह नही समझना चाहिये कि पृथ्वी के आतिरिक्त और कहीं वे नहीं रहते।

अब यह भी देखना है कि अजीव, जीव के आधार पर है, या जीव, अजीव के आधार पर है ? जड़ चेतन ने आधार दिया है या चेतन को जड़ ने आधार दिया है ? इस संबंध मे शास्त्रकार कहते हैं,—'अजीवा जीवपइठ्ठिया।'

शरीर, अजीव पुद्गल का संग्रह है, लेकिन इसका अधिकारी जीव है। मनुष्य ने मकान बनाया है। वह चाहे तो उसे गिरा भी सकता है। इसी प्रकार पहाड़, शरीर का ढॉचा, कान, नाक आदि

सब जीव के बनाये हुए हैं। यद्यपि कई लोग इन सबका कर्त्ता ईश्वर बतलाते हैं, मगर इसमें सत्यता नहीं है। यह बात पहले स्पष्ट की जा चुकी है और यहाँ उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में आत्मा स्वयं ही कर्त्ता है। आत्मा अनादि है और उसकी शक्ति अपरिमित है। वह अपरिमित शक्ति कर्म-संयोग से दबी हुई है, इसलिये आत्मा को उसका ज्ञान नहीं है। आत्मा अपनी शक्ति को जान ले तो वह पूर्ण है। आत्मा बाहर की ओर देखने का अभ्यासी हो रहा है। वह अपनी ओर नहीं देखता। इसके लिये एक उदाहरण लीजिये :—

एक साहूकार के लड़के के संरक्षक मर गये। वह लड़का ऐश आराम में और गुंडों की सोहबत में पड़कर अपना धन खोने लगा। उसका पिता साहूकार बहुत होशियार था। उसने कुछ धन ऊपर रक्खा था और कुछ जमीन में गाड़ दिया था। धन इस चतुराई से गाड़ा गया था कि जानकार को ही मिल सकता था। उस गड़े हुए धन का हाल एक स्वामीभक्त मुनीम के सिवा और किसी को मालूम नहीं था। मुनीम ने उस लड़के से कहा—'या तो तुम अपनी अक्ल से चलो या मेरी अक्ल से चलो; मगर गुंडों के इशारों पर मत नाचो। धन को वृथा मत गवाँओ।' मुनीम की बात लड़के ने नहीं मानी। मुनीम काम छोड़ के चला गया। धीरे धीरे साहूकार का लड़का जमीन—जायदाद सब कुछ

बेंच कर भिखारी बन गया। वह माँग माँग कर खाने लगा। माँगने पर कोई दे देता तो प्रसन्न होता, न देता तो उसके दुःख का ठिकाना न रहता। इसी प्रकार दिन बीतते गये।

एक बार माँगते-खाते वह अपने मुनीम की दुकान पर चला गया। लड़के ने मुनीम को तो नहीं पहचाना, परन्तु मुनीम ने उसे पहचान लिया। मुनीम ने उससे पूछा-कहो, यह क्या हाल है? लड़के ने कहा--हाल जो कुछ है, सो दीख रहा है। टुकड़ा हो तो खाने को दीजिए। तब मुनीम ने कहा--तुम्हारे घरके टुकड़े ही मेरे यहाँ हैं। मैं आप का वही मुनीम हूँ। प ने मुझे पहचाना नहीं!

मुनीम को पहचान कर लड़का रोने लगा। मुनीम की आँखो में भी आँसू छलक आये। मुनीम ने उसे सान्तवना देते हुए कहा--रो मत मेरे बेटे! बाहर का धन गया, परन्तु भीतर की शक्ति अभी विद्यमान है।

मुनीम, लड़के को लेकर उसके घर आया और गड़ा हुआ निधान बतला कर उसका काम बना दिया। लड़का बोला--मुनीमजी, मैं भिखारी बन चुका था। आप ने यह निधान बतलाकर कितना अनुग्रह किया है, कह नहीं सकता! तब मुनीमजी बोले--भैया, तुम्हारी चीज़ तुम्हें बतला दी, इसमे मेरा क्या अनुग्रह है?

! तुम्हारे भीतर ईश्वरीय तत्त्व भरे हुए हैं, लेकिन इन्हें भूलकर तुम संसार के भिखारी बने हुए हो !

भगवान् कहते हैं--गौतम ! शक्ति जीव में ही है। जीव ने ही अर्ज को पकड़ रक्खा है। संसार में जितने पदार्थ हैं, सब प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे जीव द्वारा बने हुए हैं। जीव ने ही पृथ्वी रूप आकार बना रक्खा है। पानी (शरीर) भी जीव ने ही बनाया है। अग्नि, पवन, चिऊँटी, हाथी, राजा, रंक, नारकी, देव आदि सब रूप जीव ने ही धारण कर रक्खे हैं। किसी की ताकत नहीं कि वह जीव को पकड़े। जीव ने ही सब को पकड़ रक्खा है।

जैन सिद्धान्त तो कहता ही है, मगर श्रुतियाँ भी यही बात कहती हैं।

एक जगह कहा है--यह आत्मा पृथ्वी के भीतर रहता हुआ भी पृथ्वी से अलग है--रहता यह पृथ्वी में है, मगर पृथ्वी नहीं है। जैसे देह र देही अलग है, उसी प्रकार पृथ्वी और पृथ्वी मे रहने वाला ज अलग है। आत्मा पृथ्वी को जानता है, मगर पृथ्वी ात्मा को नहीं जानती। आत्मा ने थ्वी का शरीर धारण कर रक है।

जैन श 'पृथ्वीकायिक' जीव कहता है। पृथवीकायिक का अर्थ--पृथ्वी जिसका शरीर है, ऐसा जीव।

वृहदारण्यक में कहा है–पृथ्वी, आत्मा का शरीर है। आत्मा, पृथ्वी मे रहता हुआ उसे प्रेरित करता है। 'यश्चायमस्यां पृथ्वीव्यां तेजोमयोऽमृतपुरुष:' इत्यादि। (पंचमब्राह्मम्)

जैन शा नुसार पृथ्वीकाय के जीवो में काय का योग है या नही ? अवश्य है। पृथ्वीकाय का जीव व्यंजन भी करता है, मगर बारीक होने से दीख नहीं पड़ता।

वृहदारण्य मे कहा है—वह आत्मा अन्तर्यामी है और अमृत है।

पृथ्वी के समान पानी के संबंधमे भी यही वात है। पानी भी आत्मा का ही खेल है। आत्मा ने ही परमाणुओ को पकड़ कर पानी बनाया है। आत्मा पानी मे है, मगर पानी से अलग है। पानी को वह जानता है, पर पानी उसे नही जानता। वह पानी मे रहता हुआ पानी में प्रेरणा उत्पन्न करता है वह अंतर्यामी है और अमृत है।

इसी प्रकार वायु, अग्नि, मन आदि के लिए भी श्रुति है। तात्पर्य यह है कि अजीव को पकड़ने वाला जीव है। अजीव आप ही समुदित नही हुआ है, इसे समुदित करने वाला जीव है। आप जरा आंख खोल कर देखिए। सोइए मत, जागिए।

थाने छाआई अनादि की नीद जरा टुक जोवो तो सही।
जोवो तो सही चेतनजी जोवो तो सही—

"जरा ज्ञानादि जल छॉट गगन-पट धोवो तो सही"

ज्ञानी पुरुष अपने और पराये आत्मा का अभेद करके कहते हैं--जागो ! अनादि काल की नींद भंग करके जरा देखो कि सामने क्या है ? मोह रूपी अनादि कालीन निद्रा का परित्याग करो।

आप सोचते होगे--हम कैसे जागे ? हम कौन-सी नींद सता रही है ? मगर नहीं, यह नींद ऐसी है कि कठिनाई से पहचानी जाती है। यह अज्ञान की निद्रा है। अज्ञान क्या है ? है कुछ और समझना कुछ और ही, यही अज्ञा है इसी अज्ञान के कारण आत्मा दुखी हो रहा है। अज्ञान छोड़कर देखो कि हम मुछे मरोड़ कर चलते हैं, कमर मे बल डाल कर चलते है, परन्तु चलते किस पर हैं ? अगर पृथ्वी ने आपको आश्रय न दिया होता तो आपकी अकड़ कहां तक निभती ? समाचार पत्रों में आप पढ़ते हैं कि अमुक जगह भूकम्प हुआ, जमीन फट गई, फिर भी आप मे अहंकार घुसा हुआ है । अन्यान्य देशों की भांति आपको भूकम्प का अधिक भय नहीं है, तथापि इस बात का तो करना ही चाहिए कि आपको आश्रय देने वाली पृथिवी क्या है ? इस विषय में जैन सिद्धान्त ने खूब व्याख्या की है। जैन सिद्धान्त मे पृथ्वी काय के जीवो का भी खूब वर्णन किया गया है। उनका शरीर, अवगाहना, संहनन, संस्थान आदि सभी

कुछ बतलया गया है। पृथ्वीकाय के जीव की अवगाहना अंगुल के असंख्यानवे भाग बराबर है। वे ऐसी अवगाहन वाले छोटे-छोटे अनेक जीव मिले हुए हैं, इसी कारण हिमालय और सुमेरू जैसे बड़े—बड़े पर्वत है।

सामान्यदृष्टि से मेरू का विचार करते है तो मेरू एक ही कहा जाता है, परन्तु उसमे रहे हुए पृथ्वीकाय के जीव असंख्य हैं और वे सभी मेरू है। एक घर मे रहने वाले बच्चे, बूढ़े, त्ते, बिल्ली, चूहे आदि सभी उस घर को अपना—अपना बतलाते है। इसी प्रकार अनेक जीव मिलकर उनके शरीर रूप मे यह पृथ्वी बनी है। मगर आप स्थूल को पकड़ कर सूक्ष्म को भूल रहे है। यही आपकी भूल है!

तात्पर्य यह है कि आप अभिमान करते है, मगर यह नहीं देखते कि अभिमान करने योग्य कौन-सी बात आप मे है। अगर यह पृथ्वी के जीव बिखर जावे तो कैसी बीते? समष्टि से ही यह संसार है। अगर सब जीव बिखर जाएँ तो उथल पुथल हो जाए।

आपको यह देखना चाहिए कि आप जो काम करते है, वह मिलने के हैं या बिखरने के है? कृषक खेती करते है, तब अन्न निष्पन्न होता है। वे पृथ्वी की सहायता से ही अन्न उत्पन्न करके उसका संग्रह करते है। ऐसा न करे तो संसार मे हाहाकार

मच जाय। संग्रह ही आधार है। इसलिए आप ऐसा कोई काम न करें, जिससे आप मे फूट पैदा हो। प्राण और शरीर का वियोग मत करो। इनका वियोग न करना ही दया है। मगर कठिनाई तो यह है कि आप जीवो को भंग करने मे लग रहे हैं?

आप सोचते होंगे कि संसार मे रहते हुए ऐसा किस प्रकार किया जा सकता है? लेकिन अगर आप जोड़ने का काम नहीं कर सकते और तोड़ने-फोड़ने से सर्वथा नहीं बच सकते, तो भी कम से कम मन मे जोड़ने की भावना तो करो। ध्यान मे इतनी बात तो रक्खो कि मुझ में बिखेरने और जोड़ने की-दोनो शक्तियाँ विद्यमान है। आप यह तो देखते है कि हिंसा, झूठ के बिना काम नही चल सकता, लेकिन यह क्यो नही देखते कि हम हिंसा से जीवित हैं या अहिंसा से जीवित हैं? आप की माता ने आप का पालन हिंसा की भावना से किया है या अहिंसा की भावना से? जगत् का व्यवहार सत्य से चलता है या असत्य से? आपको भूख लगी हो, फिर भी आप कहें कि मुझे भूख नही है तो कब तक काम चलेगा? वास्तव में सब काम सत्य से ही चल रहे हैं, मगर आप ने असत्य का आश्रय लेकर अपनी भावना निर्बल बनाली है।

मतलब यह है कि हमे सब प्रकार के भ्रमो का परित्याग कर के परमार्थ तत्त्व का विचार करना चाहिए। सत्य का अन्वेषण करने वाला ही कल्याण का भागी होता है।

मूल बात यह थी कि अजीव, जीव पर प्रतिष्ठित है जैसे पानी आधेय और पात्र आधार है, विना आधार के आधेय नहीं रह सकता, इसी प्रकार संसार जिस आकार में दृष्टिगोचर होता है, उस आकार का मूलाधार जीव है। अर्थात् अजीव जीव की सत्ता मे है।

पुद्गल शब्द का अर्थ ही मिलना और बिखरना है। पुद्गल मे स्थायित्व नहीं है। पुद्गल मे उत्कृष्ट स्थिरता सत्तर (७०) कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक की हैं, मगर यह भी जीव की शक्ति से ही है। जीव, पुद्गल को इतने समय तक ठहरा रख सकता है। आत्मा सहित मानव शरीर सौ वर्ष तक भी टिका रहता है, परन्तु आत्मविहीन शरीर कितने दिन तक ठहर सकता है? शरीर तो वही है, मगर उसे टिका कर रखने वाला चला गया। इसी कारण अब वह नही टिक सकता।

प्रश्न होता है अगर जीव ी अजीव को टिका रखता है तो जीव शरीर को सा वर्ष तक ही क्यो टिका रखता है? अधिक क्यो नहीं टिकाता? कदाचित् यह कहा जाय कि जीव की इच्छा सौ वर्ष से अधिक टिकाने की नहीं है, मगर मरना कौन चाहता है? सौ वर्ष का वृद्ध भी युवा पुरुष की भॉति दीर्घ जीवन की आकांक्षा रखता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न का ठीक समाधान क्या है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मृत्यु भी एक प्रकार से, चाहने से होती है । चाह दो प्रकार की है--एक दिखावटी एवं बनावटी चाह और दूसरी असली एवं सच्ची । सच्ची चाह मस्तिष्क मे उत्पन्न होती है और बाहर पूरी होती है । मकान एक दिन किसी की इच्छा-श[ि] में आया और तभी बना । वह इच्छा श[ि] अगर निर्बल होती तो मकान न बनता । लेकिन मकान विषयक इच्छा शक्ति प्रबल थी, इससे मकान बन गया । इसी प्रकार जीव की इच्छा शक्ति उसके जीवन और मरण का कारण होती है । मगर बच्चों के खेल की-सी इच्छा शक्ति से काम नही चलता, इच्छा शक्ति मे प्रगाढ़ता होनी चाहिए ।

प्रकट मे देखा जाता है कि मरणासन्न मनुष्य का जीव जब नही निकलने लगता है—अटक जाता है, तो उससे लोग पूछते है-आप क्या चाहते है ? उसके कुछ कहने पर जब उसे संतोष दिला दिया जाता है कि वह काम हो जायगा, तब वह प्राण छोड़ देता है । इस प्रकार जीव ने ही शरीर टिका रक्खा है । इसी प्रकार अन्य अजीवो को भी जीवो ने ही टिका रक्खा है, इसी कारण भगवान् कहते है—'अजीवा. जीव संठिया ।' अर्थात् अजीव जीव पर आश्रित हैं । और 'जीवा कम्मसंठिया' अर्थात् जीव कर्म पर आश्रित है । यहां तक छह प्रकार की स्थिति का वर्णन किया गया ।

सातवें बोल का आशय यह है कि चेतन पदार्थ, जड़ को ग्रहण करके उन्हें संग्रह करता है। यहां चेतन में आत्मा का और जड़ में मन आदि पौद्गलिक वस्तुओं का ग्रहण होता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा ने मन आदि समस्त वस्तुओं को अपनी सुविधा के लिए संगृहीत कर रक्खा है और वे सब उसी आत्मा के सेवक हैं आत्मा भिन्न पदार्थ है और मन आदि भिन्न हैं। मन आत्मा का साधन है, आत्मा मन का स्वामी है। इसलिए मन की अपेक्षा आत्मा महान् है। शरीर के सब अवयव वास्तव में जड़ है—पौद्-गलिक है। नेत्र देखते है, मगर देखने की शक्ति वास्तव में नेत्र की नहीं है। आत्मा की शक्ति के स्रोत विभिन्न इन्द्रियों को प्राप्त होते हैं और तभी वह अपना-अपना काम करती हैं। इसलिए वास्तविक दृष्टा आत्मा है, जो नेत्रों को साधन बनाकर देखता है। दृष्टि कम हो जाने पर एनक लगाया जाता है, मगर ऐनक दृष्टा नहीं है, उसी प्रकार नेत्र भी दृष्टा नहीं है। दृष्टा आत्मा है।

इसी प्रकार मन द्रष्टा नहीं, वह भी साधन मात्र है। नेत्र, कान, नाक त्वचा आदि की तरह मन को भी आत्मा का साधन ही समझना चाहिए। आज लोग गहराई में नहीं घुसते इस कारण उन्हें असल तत्व का पता नहीं चलता। 'जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठि।' बाहर से भीतरी तत्व कैसे दिखाई दे सकता है ?

कोई पूछे, द्रष्टा बड़ा है या दृश्य ? संसार के सारे पदार्थ दृश्य है और आत्मा द्रष्टा है। अब इन दोनो मे बड़ा कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर मे यह प्रश्न करना ही उचित होगा कि जौहरी बड़ा है या हीरा ? हंडिया बड़ी है या उसकी परीक्षा करने वाला ? सब समझदार यही स्वीकार करेगे कि दृश्य की अपेक्षा द्रष्टा बड़ा है। मगर आज हम इससे विपरीत होता देखते है। आज लोग व्यवहार मे द्रष्टा को छोटा और दृश्य को बड़ा मान बैठे हैं। उन्हे दृष्टा की कोई चिन्ता नहीं, चिन्ता है केवल दृश्य की। आत्म तत्त्व का ध्यान भूल कर लोग जड़ पदार्थों के लिए ही व्याकुल हो रहे है। इसका कारण अज्ञान है। अज्ञान के कारण लोगों ने असली तत्त्व को विसार दिया है और दृश्य पर अपने आपको निछावर कर रहे है।

मन, भाषा, इन्द्रियां तथा अन्य पदार्थ दृश्य है, और आत्मा इन सब का दृष्टा है। शरीर भी आत्मा का साधन और दृश्य है। यही कारण है कि शरीर का नाश होने पर भी ज्ञानीजन दु:ख का अनुभव नहीं करते। इस के विरुद्ध, आत्मा के प्रतिकूल आत्मा को कर्मबंधन मे डालने वाला कोई भी कार्य इन्हे सहन नहीं होता। अज्ञानी शरीर को ही सब कुछ समझता है, और ज्ञानी के लिए आत्मा सर्वस्व है।

आप कह सकते है कि शरीर की चिन्ता क्यों न की जाय। क्या हम पशु हैं जो शरीर की या अन्य पदार्थों की चिन्ता न करे। हम मनुष्य, पशुओं की तरह नहीं रहना चाहते। हमारे घर-द्वार है, ी, बाल-बच्चे हैं इन सब की चिन्ता छुड़वा कर हमे पशुता की ओर ले जाना क्यों उचित है ? मगर इस प्रकार की आशंका निर्मूल है अगर पशुता की ओर ले जाने की इच्छा होती तो उपदेश देने की ही क्या आवश्यकता थी। बल्कि हम तो पाशविक जीवन से मनुष्य को ऊँचा उठाना चाहते है। मनुष्य को पशुता से बचाकर, सच्चा मनुष्य बनाकर देवत्व की ओर ले जाने के उद्देश्य से ही ज्ञानी उपदेश देते हैं। मनुष्य ऐसे-ऐसे काम करता है, जिन्हे करने में पशु भी लज्जित होता है। उन्हीं कार्यों से मनुष्य को दूर रखने के लिए यह उपदेश दिया जाता है कि-तुम वैसे कार्य मत करो, जिनसे तुम्हारा अस्तित्व पशुओ से भी निम्न कोटि का बन जाय। . नी पुरुप कुटुम्ब पालन का निषेध नहीं करते, मगर उससे भी महान् और पवित्र उद्देश्य की ओर इंगित करते हैं आर कुटुम्ब के संबंध मे मनुष्य ने जो क्षुद्र कल्पना बनाली है संकीर्ण सीमा निर्धारित कर रखी है, उसे विशाल-विशालतर बनाने के लिए प्रेरित करते हैं।

मनुष्य मे बुद्धि अवश्य है, किन्तु वह दृष्टा को भूलकर भ्रमवश दृश्यको ही सब कुछ मान बैठा है। अपने दृष्टापन को

भूल कर दृश्य के लिए ही परेशान रहता है। वह अपनी गुरूता को विसर गया है और तुच्छ वस्तुओं को अपने से अधिक मूल्यवान् मान रहा है। एक कारीगर ने पुतली बनाई। पुतली जमीन पर गिर कर फूट गई। अब अगर कारीगर उसके लिए रोता-बिलखता है, तो पुतली बड़ी कहलाई या कारीगर बड़ा कहलाया ?

'पुतली !'

मनुष्य अज्ञान के कारण रोता है। वह वस्तु स्थिति को नही पहचानता, इसी से रोता है। जरा—जरा सी बाती के लिए रोना, अज्ञानपूर्ण है और पशुसे भी नि होने का प्रमाण है। वास्तव में पौद्गलिक पदार्थों के फेरमे पड़ जाने के कारण ही मनुष्य वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़ा है। अज्ञान के ही कारण मनुष्य, मनुष्य के लिए इतना भयंकर हो पड़ा है, जितना सांप भी नहीं होता। सांप के काटने-से थोड़े ही मनुष्य मरते हैं, मगर मनुष्य के काटने से प्रति वर्ष लाखो मनुष्य मरते हैं। यह विशालकाय तोपें, मशीनगनें और वायुयान आदि विनाश के दूत, क्या मनुष्य ने मनुष्य के शिकार करने के लिए ही नहीं बनाये है ? इन सब का कारण क्या है ? यही कि मनुष्य वास्तविकता भूल गया है और भौतिक पदार्थों की-ओर ही उसका पूरा लक्ष्य आकर्षित हो गया है।

शास्त्रकार कहते हैं—संग्राहक होने के कारण आत्मा बड़ा है। संग्रह किये हुए पदार्थ जड़ है। इसी से वे आत्मा के मुकाबिले तुच्छ हैं। इन तुच्छ वस्तुओं के लिए आर्त्तध्यान करना बुद्धिमत्ता का लक्षण नहीं। भक्तों में भी यद्यपि आर्त्ति होती है, किन्तु वह सांसारिक पदार्थों के लिए नहीं है। उसके हृदय मंदिर मे जब काम, क्रोध आदि बलवान चोर घुसने लगते हैं। और वह उन्हें रोकने मे असमर्थ हो जाता है, तब भक्त मे आर्त्ति उत्पन्न होती है और वह अपने स्वामी को दीनता पूर्वक पुकारने लगता है। समय, पैसा, मकान, दुकान, यहां तक कि शरीर नष्ट होने पर भी उसे दुःख नही होता। क्यो कि वह आत्मतत्त्व को जानता है और उसे सदैव उसी की चिन्ता लगी रहती है। आत्मतत्त्व के समक्ष संसार का सम्पूर्ण वैभव उसके लिए तिनके के समान है।

जैसे बाजीगर नकली बाग लगाकर उसे उड़ा देते हैं, रुपये बनाकर उन्हें लोप देता है, किन्तु इन चीजों के लिए वह रोता नहीं है, क्यों कि वह उनकी वास्तविकता को भली भांति जानता है कि यह कैसे बनी और इनका मूल्य क्या है ? इसी प्रकार अगर सब लोग आत्मा एवं शरीर आदि पदार्थ के सम्बन्ध को और उसके महत्व भली भांति जान ले तो फिर रोने बिलखने का कोई कारण ही न रहे !

अगर कोई चित्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के रंग दिखलाकर किसी साधारण मनुष्य को यह समझाने का प्रयत्न करे कि इन रंगों में हाथी, घोड़े, आदि के चित्र समाये हुए हैं तो साधारण मनुष्य की बुद्धि में यह बात कदापि नहीं आ सकती। किन्तु वह चित्रकार अपनी तूलीका से जब उसी रंग की लकीरें दीवाल पर बना देता है, तब उन्हे देखकर एक व भी बतला देता है कि यह अमुक जीव का चित्र है, जैसे रंग में चित्र बनाने की शा विद्यमान है, किन्तु दीवाल पर चित्र बनाने से पहले लोग उसे कम ही समझ पाते हैं, उसी प्रकार शास्त्रिय ज्ञान मे बहुत बड़े र मर्म छिपे हुए है, किन्तु जबतक कोई वैसा चित्र जन साधारण के सामने प्रस्तुत नहीं किया जाता, तब तक उसका महत्व उनकी समझ में नहीं आता। वास्तव में ज्ञान भी रंग की भांति है इसी कारण भगवानने जगह जगह उदाहरण देकर तत्व ज्ञान कराया है।

जीव, अजीव का संग्राहक है अर्थात् अजीव को जीव ने पकड़ रक्खा है, यह आठवें प्रकार की लोकस्थिति है भगवान् कहते हैं—

अजीव जीवसंगहिया।

जीव ने अजीवों का संग्रह कर रक्खा है। अजीव मे जीव पकड़ने की ताकत नही है। यह शक्ति जीव में ही है कि वह अजीव को इस रूप में लाया है। अजीव संग्रह-रूप है और जीव इन का संग्राहक है।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि आत्मा संग्राहक है, मगर अपने अज्ञान के कारण वह अपने किये संग्रह का गुलाम बन रहा है ! तुम संग्रह के अधीन हो रहे हो किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि तुम रुपये के नहीं हो, जबर्दस्ती रुपये के बन रहे हो। तुम जबर्दस्ती उसके बनते जा रहे हो। मगर वह तुम्हारी इज्जत नहीं करता। आप रुपये को अपना मानते हैं, फिर उसे रखने के लिए तिजोरी की आवश्यकता है ? इसी लिए न कि वह भाग जायगा ! आप को रुपये की ओर से निरन्तर भय लगा रहता है, फिर भी आप से लोभ और तृष्णा नही छूटते !

आप कह सकते है कि क्या हम लोग रुपया-पैसा रखना छोड़ दे ? अपने पास की सम्पत्ति दूसरों को लुटा दें ? इसका उत्तर यह है कि हम आप से यही कहते है कि आप पैसे के मत बनो, किन्तु यह सोचो कि मैं ने इसका संग्रह किया है इसने मुझे संगृहीत नहीं किया है। ऐसा समझने से बुद्धि अच्छी रहेगी। बुद्धि अच्छी रहेगी तो संगृहीत पैसे का विनियोग भी अच्छा होगा। उदाहरणार्थ–आप को एक रुपया मिला। अगर आप यह जानते है कि इस रुपये का संगृह मैने किया है और इससे कई लोगों का पोषण हो सकता है। तो आप उस रुपये का विनियोग लोगों का पालन करने मे करेगे। अगर आपने ऐसा किया तो रुपये का सद्-विनियोग कहलाया। लेकिन अगर आप ने वह

रुपया ऐसे काम में खर्च न करके किसी वेश्या को दे दिया तो उसका विनियोग ठीक नहीं हुआ। अगर आप समझ जाएँगे कि रुपया संग्रह है और मैं उसका संग्राहक हूँ तो आप उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे और उसके गुम जाने पर शोक भी नही करेंगे। आप समझेंगे कि पैसा कमाना बड़ी बात नही है बड़ी बात उस का उपयोग करना है।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि अगर जीव, जड़-पुद्गलों का संग्रहकर्त्ता है तो सिद्ध जीव पुद्गलों का संग्रह क्यो नही करते ? अगर निरंजन, निराकार सिद्ध जीव पुद्गलों का संग्रह नहीं करते तो सिद्धान्तः यह बात कैसे कही जा सकती है कि जड़ को जीव ने संग्रह कर रक्खा है ? इस प्रश्न के उत्तर में शा कहता है:—

जीवा कम्पसगाहिया ।

अजीव को पकड़ने की आदत आत्मा की असली नहीं है, वरन् जीव मे एक विकारी आदत पैदा हो गई है। इसी विकारी आदत या वैभाविक अवस्था के कारण जीव, जड़ का संग्रह करता है। आत्मा के इस विभाव को कोई-कोई त्रिगुणात्मिक प्रकृति कहते हैं और जैन-धर्म उसे आठ कर्ता का कर्म कहता है। इन आठ कर्मों की विकारी आदत के वश हो कर ही जीव, अजीव को पकड़ता है। कर्म का अर्थ है—जो किया जाय, 'क्रियते

इति कर्म ।' कर्म भी जीव के किये हुए हैं । कर्म के होने से ही जीव अजीव का संग्रह करता है। कर्म न हो तो वह अजीव का संग्रह न करे। सिद्ध जीव इसी कारण अजीव का संग्रह नहीं करते।

यह आठ प्रकार की लोकस्थिति बतलाई गई। इसमें दो बातों पर विचार करने की आवश्यकता है। प्रश्न यह है कि इस विषय में छह बातें कहने से ही काम चल सकता था फिर आठ बातें कहने का क्या प्रयोजन है ? छह बातों से काम चल जाने पर भी आठ बातें कहीं हैं, इससे शास्त्र में दोष हुआ या नहीं ? श में 'अजीवा जीवपइट्ठिया' और 'अजीवा जीवसंगहिया' यह दो बातें कही हैं, परन्तु इन दोनों के अर्थ में तो कोई मौलिक अन्तर नहीं दिखाई देता। इसी प्रकार 'जीवा कम्प पइट्ठिया' और 'जीवा कम्पसंगहिया' इन दोनो में भी कोई खास अन्तर नजर नही आता।

इसका उत्तर यह है कि पहले वाले में आधार आधेय संबंध बतलाया गया है और अगले में संग्र —संग्राहकभाव प्रदर्शित किया गया है। अतः दोनों वाक्य अलग-अलग अर्थ ते हैं।

मनुष्य भूमि पर बैठा है, यहां भूमि आधार है और मनुष्य आधेय है। इसी प्रकार जो संग्रह करता है वह संग्राहक कह-ता है। और जिसका संग्रह किया जाता है, वह वस्तु संग्राह्य कहलाती है।

अगर तल में लपुआ छोडा जाय तो वहां ाधार आधे यमान और सग्र: संग्राहक भाव—दोनों होंगे तेल आधार और मालपुआ आधेय है । और तेल संग्राह्य एवं मालपुआ उसका ाहक है ।

सार यह है कि संसार की स्थिति किस प्रकार है इस प्रकार उत्तर में इस प्रकार दिया गया है कि जीव में और जीव में-जो कि संसार रूप हैं आधार—आधेय भाव ार संग्राह्य-संग्राहक भाव विद्यमान है । इसी से संसार की स्थिति है । मगर जब तक जीव कर्मयु है, तभी तक वह ऐसा करता है, कर्म से मुक्त होने पर ऐसा नहीं करेगा । कर्मयुक्त होने के कारण जीव, अजीवों को भिन्न-भिन्न रूप प्रदान करता है । मनुष्य दूध पीता है । पेट दूध का आधार बना और दुध उसका आधेय आ । परन्तु यदि पेट की अग्नि बुझ गई हो तो क्या होगा ? र्थात् संग्रा -संग्राहक भाव नहीं रहेगा । क्योंकि दूध हजम ही नहीं होगा । जठराग्नि दूध के खल भाग और रसभाग को अलग करती है, इसी से नाक, कान, आँख आदि के रूप में वह परिणत होता है । यह संग्र —संग्राहक भाव की शक्ति है ।



जीव पुद्गल सम्बंध

पाठ–प्रश्न– त्थि णं भंते ! जीवा य
ोग्गला य अ बद्धा, अ पुट्ठा, अ -
ओगाढा, अन्नम सिणेहपडिबद्धा, अन्नमन्नघड-
त्ताए चि ंति ?

उत्तर–हंता त्थि ।

न–से ेण ेणं भंते जाव–चिट्ठंति ?

त्तर–गोय ! से ज ए हरदे सिया,
पुराणे, पुराणप्प ाणे, ेल ाणे, वो ट्टमाणे,
स भरघडत्ताए चिट्ठइ ।

ेणं केई रि ं रदं गं
म ं नावं यासवं, यछिद्दं ओगा ेज्ज । े
पूणं ेय ! ा णावा तें ा वदारे

आपूरे ार्ण ।ूरे ार्ण णा, पुण्णप ाणा, ोलट्टमाणा, वोसट्ट ाण, मभरधउत्ताए चि
हंता, चिट्ठइ।'
से ेण ेणं ोय ! त्थि णं जीव य ज -चिट्ठंति।

संस्कृत-छाया-प्रश्न--अस्ति भगवान् ! जीवाश्च पुद्गला अन्योन्यबद्धाः, अन्योन्यस्पृष्टाः, अन्योन्यावगाढाः, अन्योन्यस्नेहप्रतिबद्धाः, अन्योन्यघटतया तिष्ठंति ?

उत्तर-गौतम ! हन्त, अस्ति ।

प्रश्न-तत् केनार्थेन भगवन् ! यावत् तिष्ठंति ?

उत्तर-गौतम ! यथानाम को ह्रदः स्यात्, पूर्णप्रमाणः, व्यपलोटचन्, विकसन्, समभरघटतया तिष्ठति ।

अथ कश्चित् पुरुषस्तस्मिन् ह्रदे एकां महतीं नावं शतास्रवां, शतच्छिद्रां, अवगाहयेत्, तद् नूनं गौतम ! सा नौः तैः आस्रवद्वारैः आपूर्यमाणी आपूर्यमाणी, पूर्णा, पूर्णप्रमाणा, व्यपलोटयन्ती, विकसन्ती समभरघटतया तिष्ठति ?

हन्त, तिष्ठति ।

तत् तेनार्थेन गौतम ! अस्ति जीवाश्च यावत्-तिष्ठन्ति ।

मू ार्थ-

—भ वन् ! जीव ौर पुद्गल परस्पर ंबद्ध ै ? परस्पर खूब ंबद्ध हैं ? परस्पर ँ ए दूसरे में मिले हुए हैं ? परस्पर स्नेह-चिकनाई से प्रतिबद्ध हैं ? ौर परस्पर घ ि त हो र रहे हुए हैं ।

र—हे गौत हाँ है ।

प्रश्न—भगवन् ! ऐसा हत ा क्या कार है ? ि यावत्-जीव और पुद्गल इस प्र ार रहे हुए हैं ?

उत्तर—हे गौतम ! जैसे ोई एक ता ाव है । वह पानी से भरा हु ा है, पानी से ला ल भरा ा है, पानी से ़लक रहा है, पानी से बढ़ रहा है और वह पानी भरे घड़े के समान है । उस तालाब में कोई पुरुष बड़ी, सौ छोटे छेदों वाली, नाव को डाल दे । हे गौतम ! वह नाव छेदों से भरती-खूब भरती हुई, ़ल-

ी ई पानी से ब ायगी ? ैर व भरे घेड़ ान होगी ?

'हां, होगी ।'

इसलिए हे गौतम ! मैं कहता हूँ यावत् जीव पुद् परस्पर बद्ध हो र रहे ए हैं ।

व्याख्या

गौतम स्वामी पूछते हैं-प्रभो ! जीव शिव-स्वरूप है, परमात्मा है और पुद्गल जड़ एवं मूर्त्त है । तो भी क्या जीव और पुद्गल परस्पर संबद्ध हैं ? बहुत संबद्ध हैं ? एक दूसरे से मिले हुए हैं ? चिकनाई के कारण परस्पर प्रतिबद्ध हैं ? क्या वे परस्पर मिले ए हैं ?

जैसे काजल की कोठरी मे जाने पर काजल की रेख लगती ही है, उसी प्रकार जहाँ जीव हैं, वहाँ पुद्गल भी हैं और जहाँ पुद्गल हैं वहाँ जीव भी हैं, जीव और पुद्गलों की एकत्र स्थिति होने से दोनो का एकत्र अवगाह होता है, अवगाह होने से वे स्पृष्ट होते हैं और स्पृष्ट होने से बद्ध होते हैं ।

प्रश्न होता है-अगर एकत्र अवगाह होने से जीव और पुद्गल परस्पर स्पृष्ट और बद्ध होते हैं तो क्या सिद्धों के क्षेत्र में

पुद्गल नहीं होते ? अगर होते हैं तो सिद्धो के साथ पुद्गलो का बंध क्यों नहीं होता ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं कि संसार के जीवों में चिकास है, अतएव उनके साथ पुद्गलों का बंध हो है, सिद्ध जीवो में चिकास न होने के कारण उनके साथ पुद्गलों का बंध नहीं होता।

चिकास कैसी है, यह स्पष्ट करने के लिए टीकाकार कहते हः—

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा।
गात्रं रागादिषक्लिन्नस्य, कर्मबन्धो भवत्येवम् ॥

अर्थात्–जैसे कोई पुरुष शरीर मे तेल चुपड़ कर आँधी में बैठ जाय तो का शरीर रेत से भर जाता है, इ प्रकार जो जीव राग-द्वेष से भरा है, उसे कर्मबंध होता है।

जैसे तेल लगे शरीर पर रज लगकर वह मलरूप हो जाती है, इसी प्रकार जीव मे राग-द्वेष रूपी चिकनाई है और कर्मरज सर्वत्र भरी ई है ही; इसी से वह जीव के साथ चिपक जाती है। सिद्धों मे राग-द्वेष की चिकनाई नही है, अतएव कर्म-रज उन्हें नहीं लगती।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा और परमात्मा मे कोई मौलिक अन्तर नहीं है। अन्तर सिर्फ राग- की ि का है। यही स्निग्धता कर्मबंध का कारण है। जब विशिष्ट धना

से आत्मा की राग–द्वेष की स्निग्धता मिट जाती है, तब आत्मा ही परमात्मा बन जाता है।

राग-द्वेष के मिटाने का उपाय क्या है? उपाय कोई कठिन नहीं है। संसारी जीव किसी वस्तु को पाकर हर्ष से उन्मत्त हो जाता है, किसी को पाकर विषाद के गहरे गर में गोते ने है। किसी बात से अपमान और किसी से सन्मान की कल्पना करता है। अगर यह स्वभाव छूट जाय और समभाव में स्थित रहने का भ्यास किया राग—द्वेष का अन्त सकता है।

गौतम मी ने यह प्रश्न इसलिए किया है कि कई दर्शनों यह ते हैं कि कर्म, जीव के साथ बँधे हुए नहीं हैं, ऊपर से लगे हैं, एकमेक नहीं हो रहे हैं। । यह भी कहना है कि जीव और कर्म एकमेक हो जाएँ तो जीव का जीवत्व हीं मिट । इस मत पर प्रकाश डलवाने के निमित्त ही गौतम मी ने प्रश्न किया है कि—भगवन्! जीव और कर्म ऊपर–से मिले हैं या अन्दर से भी मिले है?

इसके अतिरिक्त गौतम स्वामी के प्रश्न का एक उद्देश्य यह भी है कि जीव अमूर्त्त और चेतनामय है तथा कर्म मुर्त्त एवं जड़ । इन दो विरोधी स्वभावों के होते हुए भी दोनों प्रकार एक–दूसरे से संबद्ध होते हैं?

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसका आशय यह है कि जीव और कर्म ऊपर-ऊपर से नहीं मिले हैं, किन्तु दूध और पानी की तरह मिले हुए हैं । अथवा जैसे दूध में घी सर्वत्र है, उसी प्रकार जीव मे कर्म भी सर्वत्र लगे हुए है । यह बात दूसरी है कि मर्मस्थान पर चोट पहुँचने के कारण जीव, शरीर का त्याग कर दे, मगर इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि जीव सिर्फ मर्मस्थान में ही है। वास्तव में सम्पूर्ण शरीर में आत्मा रहता है।

अब गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—भगवन् ! इस प्रकार प्ररूपणा करने का क्या कारण है ?

तर्क करने का सभी को अधिकार है। तर्क करने से वस्तुतत्व स्पष्ट हो जाता है। मगर तर्क मे भी विवेक और श्रद्धा का सम्मिश्रण होना आवश्यक है । शास्त्र मे स्थान-स्थान पर कहा है कि अमुक व्यक्ति ने प्रश्न किया, तर्क किया और फिर श्रद्धा की । जब तक तर्क न किया जाय, गाढ़ी श्रद्धा नहीं होती, मगर एकान्त श्रद्धाहीन का तर्क उसे किसी निश्चय पर नहीं पहुँचने देता ।

गौतम स्वामी के तर्क के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं—हे गौतम ! एक तालाब पानी से लबालब भरा है । उसमें पानी पर पानी भरा है । उस तालाब में किसी पुरुष ने नौका

डाली। नौका चली। गौतम, यह बतलाओ कि अगर नौका मे सैकड़ों छोटे बड़े छिद्र हों तो उसमे पानी भरेगा या नहीं ?

गौतम बोले--भरेगा।

भगवान् ने कहा--वह नोका पानी से पूरी भर गई और डूबकर तालाव के तल भाग में वेठ गई। अब नौका कहां है और और पानी कहां ? यह भिन्नता देखने मे आ सकती है ?

'नहीं।'

क्योकि वह नौका और पानी आपस मे मिल गये हैं। जहां जल है वहां नौका है, जहां नौका है वहां जल है।

इसी प्रकार संसार रूपी द्रह में पुद्गल रूपी पानी भरा है। यह पुद्गल रूपी पानी सम्पूर्ण लोक में सर्वत्र भरा हुआ है। संसार रूपी तालाव के पुद्गल रूपी जल मे जीव रूपी नौका है। नौका का धर्म पानी पर तेरना है, परन्तु जिस नौका मे छेद है, वह उदाहरण में कही हुई नौका के समान पानी में डूब जाती है। इस जीव रूपी नौका मे भी छिद्र हैं। उन छिद्रों के द्वारा पुद्गल रूपी पानी आये विना कैसे रुक सकता है ? जीव मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ही आस्रव हैं और इन्हीं से कर्म-पुद्गल आते रहते हैं। जैसे मकान मे दरवाजा, तालाव मे

नाला और नौका में छिद्र होते हैं, उसी प्रकार आश्रव जीव में पुद्गल आने के छिद्र हैं, उन्हें समुच्चय रूप से आस्रव कहते हैं।

सिद्ध जीवों को कर्म-बंध न होने का यही कारण है कि उन में कर्म आने के छिद्र नहीं हैं। सिद्धो के शरीर ही नहीं है। शरीर कर्म से होता है और सिद्धो मे कर्म नहीं है, अतएव शरीर भी नहीं है।

प्रश्न होता है–संसारी जीवों में आस्रव-छिद्र होने के कारण कर्मों का निरन्तर आगमन होता रहता है ऐसी स्थिति मे किसी भी जीव को मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि छिद्रो को अगर बंद कर दिया जाय तो कर्म–जल का आना रूक जाता है। नावमे छेद न होगा तो पानी चाहे जितना ऊँचा हो, नाव मे नही घुसेगा। नाव पानी के ऊपर ही उतराती रहेगी। इसी प्रकार आस्रव रूपी छिद्र बंद कर देने से जीव मे कर्मों का आगमन रूक जाता है। आस्रव–छिद्र रोकने का उपाय यह है कि हिसा को अहिसा से, झूठ को सत्य से, चौरी को अस्तेय से, मैथुन को ब्रह्मचर्य से, परिग्रह को आकिंचिन्य से, क्रोध को क्षमा से, मान को नम्रता से, माया को सरलता से, और लोभ को संतोष से रोको। इसी प्रकार कर्म–जल आने के समस्त मार्गों को रोक दो। अठारह पापों को रोक देने पर और

जीव में पहले का जो कर्म रूपी घुसा हुआ है, उसे बाहर निकाल देने पर आत्मा निरंजन, निराकार निर्लेप हो जायगा। अनुभव करके देखो तो इस कथन की सत्यता मे तनिक भी संदेह को अवकाश नहीं रहेगा।

ानी कहते हैं, अगर इतना मसे नहीं हो सक , तो थमिक दशा में एक बात का सहारा ग्रह लो। वह यह है:—

तो सुमरन बिन या कलियुग में अवर नहीं आधारो।
मैं वारी जाउँ तो सुमरन पर दिन दिन प्रेम वधारो ॥पद्म.॥

सब का निचोड़ यह है कि और कुछ भी न बन पड़े तो परमात्मा का स्मरण करते रहो। स्मरण ऐसी सरल रीति से भी हो सकता हैं कि न माला जपनी पड़े न मुँह ही हिलाना पड़े।

"श्वास उसास विलास भजन को दृढ़ विश्वास पकड़ रे!"

ऐसा होने पर संसार के अन्यान्य कामों से शरीर को फुर्सत न मिली तो भी काम बन जायगा। संसार के कामो के साथ भगवद् भजन भी चलता रहेगा। इस प्रकार से भी भजन करते रहोगे तो ोध, मोह आदि दब जाएँगे।

रागादि को जीतने का दूसरा प्राथमिक उपाय यह है कि द्वेष का बदला, द्वेप से नहीं देना चाहिए। राजनैतिक में भी ेष

का बदला ` से देने परिणाम अच्छा हुआ है। इसके कई उदाहरण मौजूद हैं। अपराध का बदला हिंसा के रूप में देने का परिणाम यह होता है कि हिंसा करते-करते निरपराधी की भी हिंसा होने लगती है। शिकार खेलने वाले कहते है-अगर हम शिकार नही खेलेंगे तो हम में वीरता नहीं रहेगी। लेकिन ऐसी वीरता, वीरता नहीं क्रूर है। इसलिए आस्रव की चाल छोड़ कर संवर की चाल चलो। अपराध का बदला प्रेम से दो ताकि स्व-पर का कल्याण हो।



स्नेह य

मू पा

श्न- त्थिणं भंते! य ीयं भे सिणे काये पवडइ!

उ र-हंता, त्थि।

श्न-से भंते! किं उड्ढं पवडइ, श्रे , तिरि पवड ?

र-गोय ा! उड्ढे विपवडइ, श्रहे वे पवड , तिरिए वि पव ?

श्न-जह से ायरे श्राउय ए श्र म - स ाउत्ते चेरं पि, दी लं ाचिट्ठइ त णं े वे ?

र-णे एट्ठे ` ? ` णं ⌒ ` `

ढ्ढं आगच्छ ।

सेवं ` ! ` ` ` ! ⌒ ।

स्कृ छाया

प्रश्न-अस्ति भगवन् ! सदा समितं सूक्ष्मः स्नेकायः प्रपतति ?

उत्तर-हन्त, अस्ति ।

प्रश्न-तद् भगवन् ! किम् ऊर्ध्वं प्रपतति, अधः प्रपतति, तिर्यक् प्रपतति ?

उत्तर-गौतम ! ऊर्ध्वमपि प्रपतति, अधोऽपि प्रपतति, तिर्यगपि प्रपतति ।

प्रश्न-यथा स बादरोऽप्कायः अन्योन्यसमायुक्तश्चिरम् अपि, दीर्घकालं तिष्ठति तथा सोऽपि ?

उत्तर-नायमर्थः समर्थः । तत् क्षिप्रमेव विध्वसमागच्छति ।

तदेव भगवन् ! इति ।

र्थ-

प्रश्न हे भगवन् ! सूक्ष्म स्नेह ाय (ए प्र ार का जल) परिमित पड़ता है ?

र–ौ ! ां, प ा ै ।

वन् ! पर प है, नीचे प ता ै, या तिर । ा ै ?

र–ौ ! व भी पड़ ा ै, नीचे भी पड़ता ै ौर तिर ा भी प ा ै ।

श –भ वन् ! वह सूत्त ज ाय स्थू ज ाय ी भाँि परस्पर ा ो र, त य त र ा है ?

र–गौ ! यह र्थ र्थ हीं है। वह ूत्त ज ाय ी ीन ो ाता है।

भ वन् ! यह इसी प्र ार है, ऐ ा कह र ौतम स्वा ी विचरते हैं।

क ारुय

श्री गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—भगवन्! क्या यह सत्य है कि सूक्ष्म स्नेहकाय-अप्काय-निरन्तर पड़ता रहता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते है–हे गौतम! हाँ सदा पड़ता रहता है। यह प्रमाणयुक्त ही पड़ता है, बादर अप्काय की तरह अपरिमित नही पड़ता। जैसे बादर अप्काय कही पड़ता है, कहीं नही पड़ता, इसी प्रकार सूक्ष्म स्नेहकाय भी कहीं पड़ता है, कही नहीं

पड़ता ऐसा नहीं। सूक्ष्म स्नेहकाय सदा पड़ता रहता है। इसके लिए ऋतु, काल, दिन, रात आदि की मर्यादा नहीं है। यह दिन मे भी गिरता है और रात मे भी गिरता है।

पूर्वाचार्यों का कथन है कि सूक्ष्म स्नेहकाय दिन के पहले पहर में और रात्रि के पहले पहर मे गिरता है। जाड़े का काल स्निग्धकाल है और ग्रीष्मकाल रूक्षकाल है। अतः सूक्ष्म स्नेहकाय (अप्काय) जाड़े और वर्षा के दिनो में पहर भर तथा गर्मी के दिनो में आधा पहर पड़ता है। इस सूक्ष्म स्नेहकाय से बचाने के लिए लेप लगे हुए पात्र आदि को बाहर नहीं रखना चाहिए। सामायिक में बैठे हुए लोग इसी कारण, खुली जगह मे, रात्रि को उघाड़े सिर नहीं रहते। सूक्ष्म स्नेहकाय के संसर्ग से बचने के लिए ही साधुओं को रात्रि के समय ऊपर से खुली जगह मे रहने का निषेध किया गया है। दिन को सूर्य के ताप से वे पुद्गल बीच मे ही नष्ट हो जाते इससे रोक नहीं की है। साधु को आश्रय मे रहना चाहिए। आश्रय चाहे वृक्ष का ही क्यों न हो।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन्! सूक्ष्म स्नेहकाय ऊर्ध्व लोक में गिरता है, अधोलोक में गिरता है या तिर्छे लोक में गिरता है? इसका उत्तर भगवान् ने फर्माया—हे गौतम! तीनों ही लोकों मे पड़ता है।

यहां ऊँचे लोक का अभिप्राय वैताढ्य पर्वत आदि है, अधोलोक का अर्थ नीचे लोक के ग्राम आदि और तिर्छे लोक का का अर्थ तो तिर्छे लोक है ही।

गोतम स्वामी पूछते हैं–भगवन् ! जिस प्रकार वादर अप्काय बूँद-बूँद संग्रह होकर तालाब आदि में भरता है, क्या उसी प्रकार सूक्ष्म स्नेहकाय भी संग्रह होता है ? इस का उत्तर भगवान् ने दिया–गोतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । अर्थात् ऐसी बात नहीं है । गोतम स्वामी पूछते हैं--क्यों भगवन् ! ऐसा क्यों नही होता ? भगवान् फर्माते हैं--गोतम, सूक्ष्म स्नेहकाय ज्यों ही पड़ता है कि उसी समय सूख जाता है । शीघ्र ही उसका विध्वंस हो ज ा है ।

गौतम स्वामी ने 'सेवं भंते ! सेवं भंते !' कहा । अर्थात् हे प्रभो ! आपका कथन सत्य है तथ्य है ।



र र्जे के प्रश्न

थ श सम उद्देशक

विषय-प्रवेश



वती सूत्र के प्रथम शतक का छठा उद्देशक समाप्त हुआ। अब सातवाँ आरंभ होता है। छठे उद्देशक की समाप्ति और सातवे के प्रारंभ का पारस्परिक संबंध बतलाते हुए टीकाकार कहते हैं कि छठे उद्देशक के अन्त मे सूक्ष्म अप्काय का शीघ्र नष्ट होना कहा है। नाश का उल्टा उत्पाद है। अतः सातवें उद्देशक मे उत्पाद की बात कहते हैं। अथवा छठे उद्देशक में लोक स्थिति का निरूपण किया था, और इस सातवें उद्देशक में भी वही बात बतलाई जाती है। अथवा शतक के प्रारंभ में जो संग्रहगाथा कही थी, उसमें सातवें उद्देशक में नरक का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई थी, अतः यहाँ नरक का वर्णन किया जाता है।

मूल पाठ—

प्रश्न—नेर ए णं भंते ! रइए ... वव-

ज्जम णे किं देशेणं-देसं उववज्जइ, देसेणं सव्वं उववज्जइ, सव्वेणं-देशं उव ज्ज सव्वेणं सव्वं उववज्जइ ?

उत्तर गोयम ! नो दे णं देसं उव -ज्जइ, नो देसेणं सव्वं उववज्जइ, नो सव्वेणं देसं उववज्जइ, सव्वेणं सव्वं उववज्ज ; ज नेर ए, एवं जाव वेमाणिए

श्न—नेर या णं भंते ! नेर ए व्व-ज्ज ाणे किं दे णं देसं आ ारेइ, देसेणं व्वं आ ारे , सव्वेणं देसं आ ारे , व्वे व्वं आहारे ?

उत्तर गोयमा ! नो देसेणं दे आहा-रेइ, नो देसेणं व्वं आहारेइ, व्वेणं वा देसं । ारे , सव्वेणं वा सव्वं आ ारे ।

प्रश ऐणं ते र एां ते उवव-
ट्टमणे ं दे णं देसं उव ?

उत्तर ज । ववज्ज ।णे त व उव -
माणे ं दंडगो भाणियव्वे ।

श्न नेर णं भं नेर एां । उव
ट्ट ।णे ं दे णं दे आ । इ?

र हे ।व-सव्वेणं । दे ।-
।रे, व्वेणं वा ं । ।रेइ, एवं जाव-
वे ।। ए।

स्कृत- । ।

प्रश्न--नैरयिको भगवन् ! नैरयिकेषु उपपद्यमानः किं देशेन देशम् उपपद्यते, देशेन सर्वम् उपपद्यते, सर्वेण देशम् उपपद्यते, सर्वेण सर्वम् उपपद्यते ?

उत्तर—गौतम ! नो देशे न देशमुपपद्यते, नो देशे न सर्वमुपपद्यते, नो सर्वेण देशमुपपद्यते, सर्वेण सर्वमुपपद्यते । यथा नैरायिकः

एव यावद् वैमानिकः ।

प्रश्न—नैरयिकः भगवन् ! नैरयिकेषु उपपद्यमानाः किं देशे न देशे माहारयन्ति, देशे न सर्वमाहारयन्ति, सर्वेन देशमाहारयन्ति सर्वेन सर्वमाहारयन्ति ?

उत्तर गौतम ! नो देशे न देशमाहारयन्ति, नो देशे न सर्व माहारयन्ति, सर्वेण वा देशमाहारयन्ति, सर्वेण वा सर्वमाहारयन्ति ! एवं यावद् वैमानिकाः ।

प्रश्न—नैरयिको भगवन् ! नैरयिकेभ्य उद्वर्त्तमानः किं देशे न देशमुद्वर्तत ?

उत्तर—यथा उपपद्यमानस्तथैव उद्वर्तमाने ऽपि दण्ड को भणितव्यः ।

प्रश्न—नैरयिको भगवन् ! नैरयिकेभ्य उद्वर्तमानः किं देशे न देशमाहारयाति ?

उत्तर—तथैव, यावत्-सर्वेण वा देशमाहारयाति, सर्वेण वा सर्वमाहारयाति । एवं यावत् वैमानिकः ।

मू ।र्थ-

प्रश्न भगवन् ! नारकियों में उत्पन्न होता हुआ

र ी िव । एक भा े, ए भा ो आश्रित र
े उत होता ै, ए । े र्व भा ो ।श्रित
र े उत ोता ै, र्व भा े ए भाग ो ।श्रित
र े उत्पन्न ोता है वा ।ों े भागों का
श्र र े उत्पन्न हे । है ?

—ोत ! ।र ी िव ए भा े ए
ो ।श्रित े उत्प नहीं ो ।, ए े र्व ।
ो आश्रित र े भी उत्प हीं होता ौर र्व । े
ए भा ो ।ि त े भी उत्पन्न हीं होता; किन्तु
सर्व भा ों । े उत्पन्न ोता ै । ।र ी े
समान वै ।नि ो त सी प्र ।र झ । चाहिए ।

प्रश्न—भ व ! । े यों े उत्पन्न होता हु ।
नार ी िव क्या ए भ े एक भा ो ।श्रि र े
आहार रता है, ए भा े सर्व ो आश्रित कर े
आहार करता है, सर्व भा ों से एक भाग ो ।श्रित र े
आहार रता है थवा र्व भागों े भागों ो ।ि
करके ।हार । है ?

र— े ै ! वह ए भा े ए भा ो ॅ े ाहार ीं . र ।। ए भा े र्व भा को ाि े । र हीं र ।। िन्तु र्व भा ों से ए ो ाि रे । र र । ै या र्व भा ों ् ॅ ों को श्रि रे ाहार रता है । इसी ार वैमानि ों । ।

न—भ वं ! ारि यों में े उद्वर्त । निक । ारी । ए भा े ए भा ो ाश्रित रे निक । है ? त्यादि पूर्ववत् र र । ाि ए ।

र— ौत ! ेे उत्पन्न ोते हुए े वि य में ।, से ो उ र्त े विषय े दं हना ि ए ।

श वन् ! ै रयि ों े र्तमा नैरयि । ए से ए भा को ाश्रि रे ाहार र । ै ? ाि प्रश्न र । चाहिए ।

र— े ौत ! पहले ी ी तर जा ना । यावत् र्व भा ों से ए दे ो आश्रित कर े आहार । ै या सर्व । ों े र्व भागों ो ाि रे । ार ै । ीप्र ार यावत् वैमाि ों जा ।।

व्याख्या

अब गोतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् नारकी जीव नरक में उत्पन्न होता है, तब यहाँ का देश (कुछ भाग) और वहाँ का देश (कुछ भाग) इस प्रकार उत्पन्न होता है, या यहाँ का देश और वहाँ का सर्व, या यहाँ का सर्व वहाँ का देश अथवा यहाँ का सर्व और वहाँ का सर्व, इस रीति से उत्पन होता है ? गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर भगवान् देते हैं—हे गौतम ! नरक का जीव नरक मे देश से देश उत्पन्न नहीं होता, सर्व से देश उत्पन्न नहीं होता. देश से सर्व उत्पन्न नहीं होता किन्तु सर्व से सर्व उत्पन होता है।

इस प्रश्नोत्तर में सबसे पहले यह प्रश्न उपस्थित होता ह कि नरक के जीव का नरक में उत्पन्न होना कैसे कहा गया है। यह शास्त्र प्रसिद्ध बात है कि नारकी जीव मरकर नारकी नहीं होता। मनुष्य और तिर्यंच ही मरकर नरक में उत्पन हो सकते है। फिर इस प्रश्नोत्तर में यह कथन क्यों किया गया है ?

इस प्रश्न का सामाधान यह है कि चलमाणे चलिए सिद्धान्त के अनुसार जो जीव नरक में उत्पन होने वाला है, उसे नरक का जीव ही कहते है; क्योकि वह मनुष्य या तिर्यंच योनि का आयुष्य समाप्त कर चुका है और उसके नरकायु का उदय हो

चुका है। नरकायु का उदय होते ही उस जीव को नारकी कहा जा सक है। अगर ऐसा न माना जाय तो उसे किस गति का जीव कहा जायगा ? मनुष्य या तिर्यंच की ायु समाप्त हो गई है : मनुष्य या तिर्यंच तो कह नहीं सकते; और नरक में नहीं प ँचने के कारण नारकी भी न कहा जाय तो फिर उसे किस गति में कहा जाय ? वह नरक के मार्ग में है, नरकायु का उदय उसके हो चुका है, इसलिए नरक में उत्पन्न न होने भी उसे नरक का जीव ही कहना उचित है।

गौतम स्वामी के प्रश्न में बड़ा रहस्य है। संसार में अनेक ऐसी बातें हैं, जिनसे अपने तत्त्व की गाड़ी, बचाते हुए निकाल जाना बड़ी कठिनाई का काम है। गौतम स्वामी के प्रश्न में तत्त्व की गाड़ी का बचाव किया गया है। किसी को र भी न और अपनी गाड़ी भी निकल जाए, ऐसा करना बड़ी सावधानी का काम है, यही सावधानी इस प्रश्न में रक्खी गई है। गौतम स्वामी ने अपने प्रश्न में अन्यान्य वादियों के वाद को बतलाते हुए भगवान् से प्रश्न किया है कि प्रभो ! कोई कुछ मानता है; लेकिन आपका सिद्धान्त क्या है, सो कहिए ? भगवान् ने उत्तर में फ़र्माया—हे गौतम ! मैं चौथा विकल्प मानता हूँ।

शास्त्रकारों ने संसार-प्रचलित असत् वादों से बचाकर सत्य सिद्धान्त का तिपादन किया है। उन्हें किसी को धक्का लगाना

भी अभिष्ट नहीं था, और न सत्य सिद्धान्त को दबाना ही अभि था। उन्होने प्रत्येक बात सीधी-सादी युक्तियों और उपमाओं से सिद्ध करके दिखलाई है। उनकी सादी और बुद्धि-गम्य युक्तियां देखकर उन पर विश्वास करना चाहिए। कदाचित् कोई बात समझ मे न आवे तो भी यह विचारना चाहिये कि मेरी समझ में न आने से ही कोई बात मिथ्या नहीं हो सकती। मेरी समझ इतनी परिपूर्ण नहीं है कि उसे सत्य-असत्य की कसौटी बनाया जा सके। वीतराग महापुरुषों को राग-द्वेष नहीं फैलाना था, फिर वे असत्य बात क्यों कहते? जिनका राग-द्वेष नष्ट हो गया है और जो ज्ञानी है, उनकी बात पर विश्वास करना ही विवेकशीलता है।

आप कह सकते हैं कि नारकी जीव नरक में चाहे सर्व से सर्व आश्रित कर के उत्पन्न हो या देश से देश का आश्रय करके उत्पन्न हो, इससे हमे क्या प्रयोजन है? इस संबंध मे ज्ञानियों का कथन यह हैं कि जिनकी बुद्धि संकीर्ण है, वे भले ही छोटी बातो से संतोष करलें, परन्तु समदर्शी तो सभी पर विचार करते हैं। साधारण लोगो को स्वर्ग की त अच्छी लगती है और नरक की वात अच्छी नहीं लगती, लेकिन ानी, नारकी जीवों से लेकर वैमानिको तक को समभाव की दृष्टी से देखते है उन्हें किसी पर विपमभाव नहीं है।

एक भोजन थाली में होता है—जो सुन्दर और स्वादु प्रतीत होता है, और दूसरा भोजन पेट में होता है, जो पच रहा ह। पेट में जो भोजन पच रहा है, उसकी स्थिति कैसी होती है, यह बात वमन (कै) देख कर आपने जानी होगी। यानी उसे देख कर घृणा होती है अगर आपसे यह पूछा जाय कि थाली के भोजन मे क्या उपयोगिता है ? और थाली का भोजन सुन्दर और पेट का भोजन घृणाजनक क्यो है ? आप इस प्रश्न का क्या उत्तर देंगे ? अगर थाली का भोजन भूख न मिटावे और पचे नहीं तो कौन उसे अच्छा कहेगा ? इससे प्रकट है कि भोजन की अच्छाई अपनी पाचन शक्ति पर निर्भर है। अगर आप यह [सो]चने लगें कि पेट में गया हुआ भोजन खराब हो जाता है और इसलिए उसे पेट में डालने से क्या लाभ है ? ऐसा सोचकर भोजन न करें तो शक्ति कहाँ से आएगी ? अगर थाली का भोजन पेट में पहुँच कर थाली के जैसा बना रहे—बदले नहीं तो भयंकर उत्पात मच जाएगा।

आप थाली के भोजन से प्रीति और पचते हुए भोजन से घृणा करते हैं, मगर ज्ञानी कहते हैं कि आप भ्रम मे है। जो चीज़ महत्व की है और जिसके कारण ही भोजन का महत्व है, [उ]से तुम घृणा करते हो ! इस प्रकार जब प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली के विषय में भी तुम्हारी और ज्ञानियों की दृष्टि मे

अन्तर है तो स्वर्ग नरक आदि के विषय में तुम्हारी दृष्टि भिन्न प्रकार की हो, यह संभव है। मगर ज्ञानी की विचारणा ही सही और हितावह होती है। आपको नरक के नाम से इतनी घृणा है कि भोजन करते समय आप नरक का नाम भी सुनना नहीं चाहते किन्तु ज्ञानियों के भाव में स्वर्ग-नरक समान है। जिन ज्ञानियों ने मोह को इस प्रकार जीत लिया है, उन्हें नमस्कार करना चाहिए और उनकी बात पर विश्वास करना चाहिये।

कर्म के प्रभाव से ही जीव को नरक में जाना पड़ता है। अगर कर्म का बंध न हुआ होता तो जीव नरक में न जाता। सोना परतंत्र होने पर ही ठोका-पिटा जाता है। गढ़े हुए सोने को सभी पकड़ना चाहते हैं। कोई कहता है-यह कनफूल है, कोई कहता है-यह मेरा कड़ा है, आदि असल सोना गढ़ा न जाता तो वह अपने असली रूप मे सोना ही बना रहता। आज अनेक घरों मे गढ़े हुए सोने के लिए ही प्रायः झगड़ा होता है। मतलब यह है अगर आत्मा को कर्म रूप उपाधि नहीं लगती तो वह अपने असली स्वरूप मे रहता जब कर्म रूप उपाधि लगती है तब उसके अनेक आकार बन जाते हैं। इन अलग-अलग घाटो के ही कारण जीवो का चौवीस दंडको के रूपमें विभाग किया गया है।

अब गौतम स्वामी पूछते है-भगवन्! नारकी जीव आहार करते है या नही, अगर करते है तो किस प्रकार करते ह? भगवान् उत्तर देते हैं—गौतम! सर्वभाग से एक देशाश्रित आहार करते

हैं और सर्वभाग से सर्व भागाश्रित आहार करते हैं। यही बात वैमानिकों तक समझना चाहिए।

गौतम स्वामी के यह पूछने पर कि नारकी आहार करते हैं या नहीं; भगवान् ने फर्माया है कि आहार के विना शरीर नहीं टिक सकता। आहार अन्न है और वह प्राण के लिए आवश्यक है। जहाँ प्राण है वहाँ आहार है और जहाँ आहार है वहीं प्राण है। आहार चाहे दिखने योग्य हो या सूक्ष्म हो, मु   से खाया गया हो या रोम अथवा श्वास द्वारा ग्रहण किया गया हो; किन्तु आहार के विना शरीर नहीं टिक सकता।

भगवान् ने फर्माया है—सर्व से देश-आश्रित और सर्व से सर्व-आश्रित आहार किया जाता है। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि देश से सर्वाश्रित आहार करते तो ठीक था, क्योंकि मुख रूप एक देश से थाली मे पड़ी हुई सब रोटियाँ खा ली जाती ह; किन्तु सर्व से देश-आश्रित आहार कहा, सो यह कैसे संभव है ? यह शंका निर्मूल समझनी चाहिए, क्योंकि सर्व से देश-आश्रित आहार का शास्त्रीय विधान ही समीचीन है। हम लोग जो कुछ भी आहार रूप मे ग्रहण करते हैं, उसमें से कुछ तो हमारा आहार वनता है और कुछ मल-मूत्र आदि के रूप मे वाहर निकल जाता है। जो निकल जाता है, वह वास्तव मे आहार नहीं है। साधारणतया कहा जाता है कि भक्षण किये हुए पदार्थों में

से दो भाग निकल जाते हैं और एक भाग उपयोगी होता है। आधुनिक विज्ञान से यह प्रतीत हुआ है कि मनुष्य वास्तविक आवश्यकता से कई गुना अधिक भोजन करता है। लोगों को ज्ञान नहीं है कि उनके शरीर को दरअसल कितने आहार की आवश्यकता है ? अतएव जब तक पेट न फूल जाय, लोग अन्धाधुन्ध पेट भरे जाते हैं। लोगों की यह आदत ही पड़ गई है। अगर कोई किसी दिन अपने दैनिक भोजन से कुछ न्यून खाता है तो उसे यह अंदेशा हो जाता है कि आज मैं भूखा हूँ—मैंने पेट भर भोजन नहीं किया। आजकल के श्रीमान् लोग नाना प्रकार के स्वादिष्ट मसाले, अचार और चटनी केवल इसी लिए खाते हैं कि भूख न लगने पर भी पेट ठूंस-ठूंस कर भर लिया गया। ऐसा करने से उन्हें चाहे जिह्वा सुख मिलता हो या अपनी श्रीमंताई का अनुभव करके घमंड होता हो, मगर शरीर को बहुत हानि पहुंचती है। संसार में एक ओर गरीब लोग भूख से तड़प-तड़प कर मर रहे हैं, दूसरी ओर बिना भूख के भोजन से जबर्दस्ती पेट भरा जाता है और ज्यादा खाने के लिए नाना विधियाँ काम में लाई जाती हैं! इसी कारण संसार में अंधेर मच रहा है।

शास्त्र मे कहा है कि खाये हुए आहार में से थोड़े आहार का शरीर के लिए उपयोग होता है, शेष खलभाग के रूप में बाहर निकल जाता है। शा ों में आध्यात्मिकता के साथ ही साथ

शरीर विज्ञान भी कूट-कूट कर भरा है। एक अनुभवी ने बतलाया है कि दस तोला अन्न अगर खूब चबा-चबा कर ाया जाय तो मनुष्य बखूबी जीवित रह सकता ह। मगर यहाँ तो हाल ही और है! जो जितना खा पाता है, वह उतना ही अधिक प्रसन्न होता है! फिर अगर कहीं पराये घर का भोजन हुआ, तब तो कहना ही क्या है? फिर तो यह कहावत चारितार्थ होती है:—

परान्नं प्राप्य दुर्बुद्धे, मा शरीरे दयां कुरु।
परान्न दुर्लभं लोके, शरीराणि पुनः पुनः॥

अर्थात्–अरे मूढ़! पराया अन्न पाकर शरीर दया मत कर। शरीर तो वार वार मिलते ही रहते है, मगर पराया अन्न मिलना दुर्लभ है!

सर्व से देश का आहर करते हैं, इस कथन मे बहुत रहस्य छिपा है। जैन सिद्धान्त उसे आहार नहीं कहता जो पेट मे ठूंस लिया जाता है। वरन् आहार वह सारभूत वस्तु है जो खल के अतिरिक्त होती है और जिससे शरीर का निर्माण एवं पोषण होता है मुख द्वारा खाया हुआ आहार आँख, कान, नाक, आदि इन्द्रियों में पहुँचता है। वह शरीर के रोएँ रोएँ मे पहुँच जाता है। उस सार--आहार में बड़ी शक्ति होती है। यद्यपि शरीर के विभिन्न भागों में पहुँचना--पहुँचता वह आहार बहुत अल्प मात्रा

में ही रह जाता है, मगर वस्तु में यह नियम देखा जाता है कि किसी भी वस्तु के ज्यों--ज्यों भाग होते जाते हैं, उन भागों की शक्ति बढ़ती जाती हे होमियो-पैथिक औषधों से यह बात सहज समझी जा सकती हे।

हमारे सूत्रों की फिलॉसफी थोकड़ो में ही बंद रह गई। थोकड़े रट करके भी हम अपने प्रमाद के कारण उसका व्यवहार नहीं कर सके। यह बारीक ज्ञान यथोचित रूप से प्रकाश मे भी नहीं लाया गया है, जब कि बाईबिल जैसे ग्रंथों का नित्य नये रूप मे प्रचार हो रहा हे। जिस भगवती सूत्र का यह ज्ञान है, उसका भाष्य जर्मनी में बना उससे वहॉ के विद्वानों ने बहुत सी बाते जानीं और बहुतो को व्यवहार मे लिया। इसके विरुद्ध हमारे यहॉं के लोग उपेक्षा भाव धारण किये रहते हैं। जो खोजता है, वह पाकर उन्नत बनता है, नहीं खोजने वाले के घर की चीज़ भी उसे लाभदायक नहीं होती। अस्तु।

ऊपर कहे हुए 'सव्वेणं वा देसं' पदो का आशय संग्रह के आहार से है। शरीर के अंगों में परस्पर संबंध है। कान से सुनी हुई बात चीत फौरन समझ जाता है वास्तव में, शरीर के भीतर बैठा हुआ आत्मा, इन्द्रिय रूपी खिड़कियो से सब काम करता है और उन्हीं के संग्रह से वह संग्राहक कहलाता है। आहार भी यही करता है एक भी प्रदेश खाली रखकर आहार नहीं होता, इसी

लिए कहा गया है कि सर्व से देश आश्रित आहार करता है।

शास्त्र में दूसरी बात यह कही गई है कि जीव सर्व से सर्वाश्रित आहार करता है ! अब इस कथन पर विचार करना चाहिए। सर्व प्रथम यह शंका उपस्थित होती है कि खाने पर मल-मूत्र तो होता ही है, फिर सर्व-आहार क्यों कहा है ? पर यह शंका ठीक नहीं है। गर्भ का बालक, नाल से आहार करता है जितने पुद्गलो का आहार करता है, वे सभी पुद्गल धातुएँ बन जाते हैं। इस दृष्टि से 'सव्वेणं वा सव्वं' यह कथन ठीक बैठता है।

शास्त्रों में जहां सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम विषयों का विशद विवेचन किया गया है, वहां स्थूल विषयों को भी नहीं छोड़ा गया है। उसमें आध्यात्मिक वर्णन के साथ नरक का वर्णन है। इसीलिए शास्त्रो का वर्णन सर्वांग पूर्ण है। मगर हमारी बुद्धि बहुत संकीर्ण है। हम लोग नरक का वर्णन तो पढ़ते है, किन्तु मनुष्यो से घृणा करते हैं। इसी अज्ञान के कारण लोग प्रार्थना से दूर रहते है। प्रार्थना में मोह का त्यागने की बात कही गई है। जहाँ मोह है, वहाँ स्व-पर का भेदभाव है और जहाँ स्वपर का भेदभाव है वहाँ पक्षपात के कारण राग-द्वेष का होना अनिवार्य है लेकिन जब तक यह भेदभाव निकल नहीं जाता, तब तक समस्त ज्ञान, अज्ञान के तुल्य है। गीता मे कहा है।

विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः ॥

जो लोग समझदार अर्थात् पंडित है, वे विद्या एवं विनय से संपन्न ब्राह्मण में गौ, हाथी, चाण्डाल और कुत्ते में समदृष्टि वाले होते हैं।

यह ठीक है कि सिर, पैर नहीं हो सकता और पैर, सिर नहीं हो सकता। मगर पैर नीचे हैं, इसीलिए उनसे घृणा करना बुद्धिमानी नहीं है। कहावत—पानी में रहना और मगर से बैर! भंगी के बिना क्षण भर काम नहीं चलता और उसीसे घृणा की जाय, यह कैसी विपरीत बात है? स्वदे के मनुष्यों एवं उपाधियों से तो घृणा की जाय और विदेशी मनुष्यो और उपाधियो से प्रेम किया जाय, यह कौनसा ज्ञान है? लोग जब अपने आप से गिर गये तो ार-व्यवहार मे भी अगर गिर जाएँ तो आश्चर्य की कौन-सी बात है! दूसरे लोग तुम्हारा उपहास करते हैं। वे सोचते हैं—देखो, यह स्वदेशी मनुष्यों से घृणा करने वाले लोग भी मनुष्य कहलाते हैं! अगर तुम्हारी घृणा आर हाय-हाय धर्म की प्राप्ति होने पर भी नहीं छूटी तो फिर वह कभी नहीं छूटने की! अब पुरानी एवं निराधार परम्पराओ के गीत मत गाओ, उनसे इस युग मे काम नहीं चल सकता। मेरी बात तुम्हें जँचे या न जँचे, मगर सत्य आर हितकर बात कहना मेरा कर्तव्य है अन्तस्तल में उत्पन्न

होने वाले अन्तर्नाद को तुम्हारे कानों तक पहुँचाना मेरा फर्ज़ है। पॉलिसी ही पॉलिसी में ऊपरी दिखावट करते-करते धर्म की प्रतिष्ठा नष्ट हो गई। जबतक धर्म कहलाने वालों में सद्भावना का उदय नहीं होता, तबतक धर्म की प्रतिष्ठा नहीं जम सकती।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं-भगवान्! जब जीव की स्थिति नरक में पूरी हो जाती है तो वह एक भाग से एक भाग, एक भाग से सर्व भाग, सर्वभाग से एक भाग या सर्वभ से सर्वभाग के आश्रित निकलता है? भगवान् ने फर्माया-उत्पत्ति के संबंध मे जो बात कही गई, वही निकलने के संबंध मे भी समझ लेना चाहिए।

तब गौतम स्वामी पूछते हैं-भगवन्! नरक से निकलता हुआ नारकी देश से देश का आहार करता है या किसी प्रकार? भगवान् ने उत्तर दिया-इस विषय में भी पहले की ही तरह समझना चाहिए। अर्थात् देश से देश का नहीं, देश से सर्व का नही सर्व से देश का अथवा सर्व से सर्व का आहार करता है।



उत्पात और अ हारविषयक प्रश्नोत्तर

उववज्ज , ्वेणं अद्धं उववज्ज , सव्वज इ, सव्वेणं सव्वं उववज्ज .

उत्तर–ज पढा ेणं दं ग तहा द्धेण ँ दंडग ाणियव्वा। नवरं जहिं देसेणं देसं उववज्जइ, जा अद्धेणं द्धं उववज्जइ, ति भ ाणितव्वं। एवं णाणत्तं, एते ं े ँ े दंड ाणियव्व।।

– । ।–

प्रश्न–नैरयिको भगवन् ! नैरयिकेषु उपपन्नः किं देशेन देशमुपपन्नः ?

उत्तर–एषोऽपि तथैव। यावत् सर्वेण सर्वमुपपन्नः। यथा उपपद्यमाने, उद्वर्तमाने च चत्वारो दण्डकाः, तथा उपपन्नेन, उद्वृत्तेनापि चत्वारो दण्डका भणितव्याः, सर्वेण सर्वमुपपन्नः। सर्वेण वा देशहारयति, सर्वेण वा सर्वमाहारयति। एतेन अभिलापेन उपपन्नेऽपि ज्ञातव्यम्।

उत्पात और अहारवि
गोत्तर

मूल

श्न—ने एणं ! र उवव-
किं दे एणं दे उववन्ने ?

उत्तर—एसो व । जा व्वेणं
सव्वं उव गणे । ज उव ज्ज णे, ट-
णे य चत्तारि दंड , उ एणं, उव्व-
ट्टेण चत्तारि दंडगा णियव्वा । व्वेणं
सव्वे उ वराणे । व्वेणं वा देसं आ रे , णं
वा देसं । रे । एएणं भिलावे
वि, व्वट्टेण ने व्वं

श्न–नेर एणं भंते । ए उववज्ज-
माणे किं अद्धेणं द्धं उववज्जइ, अद्धेणं सव्वं

उववज्ज , ब्वेणं अद्धं उववज्ज , सव्व इ, सव्वेणं सव्वं उ वज्ज .

उत्तर–ज पढ़ि　　दं गा तहा द्धेण अ दंडग णियव्वा। नवरं जहिं देसेणं देसं उववज्ज , जि अद्धेणं द्धं उववज्जइ, ति भ णितव्वं। एवं णाणत्तं, एते सव्वे　　दंड　णियव्वा।

संस्कृ – । ।–

न–नैरयिको भगवन् ! नैरयिकेषु उपपन्नः किं देशेन देशमुपपन्नः ?

उत्तर–एषोऽपि तथैव । यावत् सर्वेण सर्वमुपपन्नः । यथा उपपद्यमाने, उद्वर्तमाने च चत्वारो दण्डकाः, तथा उपपन्नेन, उद्वृत्तेनापि चत्वारो दण्डका भणितव्याः, सर्वेण सर्वमुपपन्नः । सर्वेण वा देश-हारयति, सर्वेण वा सर्वमाहारयति । एतेन अभिलापेन उपपन्नेऽपि ज्ञातव्यम् ।

प्रश्न—नैरयिको भगवन्! नैरयिकेषु उपपद्यमानः किम् अर्धेन अर्धमुपपद्यते, अर्धेण सर्वमुपपद्यते, अर्धमुपपद्यते, सर्वेण सर्वमुपपद्यते ?

उत्तर—यथा प्राथमिकेनाष्ट दण्डकास्तथा अर्धेनापि अष्ट दण्डका भणितव्याः। नवरं—यत्र देशेन देशमुपपद्यते, तत्र अर्धेन अर्धमुपपद्यते इति भणितव्यम्। एवं नानात्वं, एते सर्वेऽपि षोडश दण्डका भणितव्याः।

मू ार्थ

प्रश्न—भगवन्! ार ियों े उत्प नारकी या ए देश े ए दे ाश्रित र े उत्पन्न है ? (इत्यादि प्रश्न करना चाहिए।)

उत्तर—गौतम! यह दंड भी उसी प्र ार जानना। यावत्—सर्वभा से र्वभा ो ाश्रित र े उत्प होता है। उत्पद्यमान ौर उद्वर्त ान े विषय में चार दंडक हे, वैसे ही उत्पन्न ौर उद्वृत्त े विषय में भी चार दंडक कहना। 'भाग े ए भाग आश्रित रके उपपन्न' 'सर्वभाग े ए भा ो आश्रित र े ाहार' और 'सर्वभाग से सर्वभाग ो ाश्रित करे ाहार'

इन शब्दों द्वारा उत्पन्न ौर द् त्त े विषय में भी स झ लेना चाहिए।

र -भगवन् ! नैरयि ों में उत्प होता हु ा नार ी या र्ध मा से, र्ध भाग आश्रित र े उत्पन्न होता है, अर्धभा से सर्वभा ाश्रि र े उत्पन्न होता े, सर्वभा े अर्धभाग ो ाश्रित र े उत्पन्न हेता है अथवा र्वभा ो ाश्रित र े उत्पन होता है ?

उत्तर- ौत ! े से पह े चा ों े साथ । दंडक व े हैं, उ ी प्रकार अर्ध के ाथ भी । दं हने चाहिए। विशेषता इतनी े ि - ाँ 'ए भा से एक भा को, ाश्रि र े उत्पन्न होता े ' ऐ ा पा ाए वहाँ ' र्ध ाग े र्धभा ो ाश्रित र े उत्पन्न ो है ऐ ा पाठ बो ा चाहिए। ब यही भि ता है। यह मि र ोलह दंड होते है।

ठ ाख्या

अब गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं–भगवन् ! नारकी किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ? भगवान् ने उत्तर दिया–उनके लिए पहले कासा ही क्रम समझना चाहिए।

पहले गौतम स्वामी ने एक नारकी के ध में किया था, अनेक के विषय में प्रश्न किया है। यह निरर्थक है; क्यो कि कहीं-कहीं एक के लिए एक नियम होता है और दूसरे के लिए दूसरा। किन्तु नरक में ऐसा नहीं है। वहाँ एक के लिए जो नियम है। वही दूसरे सब के लिए नियम है। यह बात प्रकट करने के लिए ही एक वचन और बहुवचन को लेकर अलग- प्रश्न किये है।

इसके पश्चात् गौतम ामी ने ि के निकल ने प्रश्न किया, जिसके उत्तर में भगवान् ने -एक की ही तरह के विषय मे भी स । चाहिए।

अब गौ स्वामी पूछते हैं- ो! मे होने क्या अर्धभाग से आध ि करके होता है, आधे से होता है, ब से आ अत करके उत्पन्न होता है, से ह है?

भगवान् ने उत्तर दिया-गौतम ! पहले कहे हुए आठ दंडको के समान ही यहाॅ भी सम ा चाहिए। फर्क केवल इतना है कि उस मे जहाॅ 'देश से दे ा उत्पन्न होता है' ऐसा कहा है वहाॅ 'आधे से आधा उत्पन्न होता है ऐसा बोलना चाहिए। आधे से सर्व नहीं, आधे से आ नहीं। सर्व भाग से आधा भाग हो

और ग भी हो कता है इस प्रकार पूर्वोक्त और यह आठ दंडक मिलकर सब सोलह दंडक होते हैं।

पहले एक देश (अव) संबंधी प्रश्न कि जा चुका था फिर यहाँ आधे के विषय में क्यों प्रश्न किया गया? इसका उत्तर यह है कि देश और आध में बहुत अन्तर है। मूंग में सैकड़ों देश (अवयव) हैं। उसका छोटे से छोटा टुकड़ा भी देश ही कहलाएगा, किन्तु बीचोंबीच से दो हिस्से होने पर ही आधा भाग कहलाता है। इस प्रकार जीव के दो टुकड़े हों और एक टुकड़ा उत्पन्न हो और दूसरा न हो, यह नहीं हो सकता। यही बतलाने के लिए यह प्रश्नोत्तर किया गया है कि आत्मा के देश या आधा हिस्सा नहीं हो सकता। आत्मा अछेद्य है। गी में भी कहा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥

अर्थात्—इस त्मा को काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी भिगो नहीं सकता और हवा सुखा नहीं सकती।

इस प्रकार आत्मा के टुकड़े नहीं होते। वह मारने से मर नहीं सकता, काटने से कट नहीं सकता। नरक में जायगा तो

पूरा जायगा, स्वर्ग में जायगा तो भी पूरा ही जायगा और अगर मोक्ष में गया तो भी पूरा ही जायगा।

शास्त्र ने नरक की तीव्र से तीव्र वेदना का जो वर्णन किया है, उसमे भी रहस्य छिपा है। उसके वर्णन से यह ज्ञात होती है कि नरक की जिस भीषण अग्नि को जीव सुलगता है, उसमे पड़कर भी जीव का नाश नहीं होता। नरक में तीखे से तीखे श से तुम्हे काटा गया, फिर भी तुम्हारी सभा आज भी बनी हुई है। तुम अमर रहे और अमर ही रहोगे। जब नरक की वेदना से भी तुम्हारी कोई हानि नहीं हुई तो संसार की छोटी-छोटी हानियाँ तुम्हारा क्या बिगाड़ सकती हैं?

आजकल लोग यह बात भूल-से गये है कि आत्मा अजर-अमर, अविनाशी है। इसी कारण लोग मृत्यु से बेहद डरते हैं। वास्तव मे, 'मैं' बोलने वाला कभी मरता नहीं है। तब मरना क्या झूठी कल्पना है? अगर मृत्यु झूठी कल्पना नहीं है तो फिर कौन मरता है? मृत्यु क्या चीज है? यह सब गूढ़ प्रश्न हैं। आत्मा का सिर्फ रूपान्तर होता है। वह एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है। वा मे आत्मा का विनाश नही होता।

केवल आत्मा ही क्यो, संसार मे जितनी वस्तुएँ हैं, उनमें

से कोई भी ऐसी नहीं है, जो हो मगर न रहे। जो आज है, वह सदैव थी और सदैव रहेगी। कभी वह मिट नहीं सकती। धूल का एक कण भी कभी सर्वथा अभाव रूप नहीं हो सकता।

गीता में कहा है--

नासतो विद्यते भावः, नाभावो जायते सतः।

अर्थात्--जो चीज़ है, वह कभी 'नही' मे नहीं वदल सकती और जो नहीं है, वह कभी हो नहीं सकती।

उदाहरण के लिए पानी के एक वूद को ही समझिए। स्थूल दृस्टी से यह समझा जाता है कि जल का एक विन्दु सूख कर सदा के लिए असत्--नास्ति रूप वन जाता है मगर यह समझ सही नही है। वह अपने मूल तत्व मे जाकर मिल जाता है। पदार्थों का सदैव परिवर्त्तन होता रहता है। कभी घड़े से मिट्टी वनती है, कभी मिट्टी से घड़ा बनता है। इस प्रकार जव एक रज--कण भी नहीं मिटता तो नादि काल से कूद--फॉद करने वाला यह आत्मा कैसे नष्ट हो सकता है? अगर आत्मा है तो वह सदैव के लिए है।

घर का आदमी जव मर जाता है तो लोग शोक से व्याकुल होकर रोते है, मानो वह कहीं रहा ही नहीं है। किन्तु आत्मा वास्तव मे पलटा खा कर दूसरी जगह चला जाता है। व्यवहार

मे भले ही उसे 'मरा' कह दो, मगर तात्त्विक दृष्टि से वह मरता नहीं है।

जब आत्मा अमर है तो रोना किस बात का ? यह ठीक है कि पुत्र जब परदेश जाने लगता है तो माँ की आँखों में आँसू आ जाते हैं। इस जाने मे घर का बदला ही तो होता है। और अभ्यास न होने के कारण माता के आँसू आ जाते हैं। अभ्यास हो जाने पर वह रोती-पीटती नही है। पुत्र की तरह आत्मा के अधिक दूर पड़ जाने पर लोग कहते है-'अमुक व्यक्ति मर गया।' वास्तव मे वह पहले जिस ढंग मे था, उस ढंग मे वह अब वापिस नही मिल सकता, इसी लिए लोग रोते-चिल्लाते है। मगर ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि रोना-चिल्लाना और छाती पीटना वृथा है। आत्मा मरा नही है। उसने एक रूप छोड़ कर दूसरा रूप ग्रहण कर लिया है।

एक बात ध्यान देकर विचारने की है। अगर आत्मा मे काया बदलने का स्वभाव न होता तो तुम्हारा पुत्र तुम्हारे यहाँ कसे उत्पन्न होता ? उसका जन्म होने पर तुम जब खुशी मना रहे थे, तब कोई रो भी रहा होगा ? इस प्रकार की अदल-बदल सदा से होती आई है। प्रकृति का यही नियम है।

एक बात और है। अगर आत्मा सचमुच मर ही गया तो

अब रोने से क्या लाभ है? रोने से क्या वह लौट आएगा? नहीं, तो उस एक के पीछे अपना भी विगाड़ क्यों करते हो? आर्त-ध्यान करके क्यों कर्मबंध करते हो? उदाहरणार्थ—मान लीजिए, एक वृक्ष में दो डालियाँ हैं। पाला (हीम) पड़ने के कारण उनमें से एक डाली जल गई। एक हरी रही। इसके अनन्तर ही बसन्त ऋतु आई। तब हरी डाली में फूल-पत्ते आएँगे या सूखी डाली में?

'हरी में!'

उस समय हरी डाली को पुष्प-पत्रो से सुशोभित होना चाहिए या अपनी साथिन के रंज में सूख जाना चाहिए?

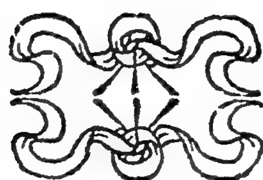
'हरी होना चाहिए!'

जिस प्रकार एक डाली के सूख जाने पर दूसरी डाली नहीं सूखती, उसी प्रकार, ज्ञानीजन कहते हैं—एक की मृत्यु हो जाने पर तुम क्यो अपना वृथा विगाड़ करते हो? क्या तुम डाली से भी गये-गुजरे हो?

आप कह सकते है कि डाली-अज्ञानी है, इस लिए वह नहीं रोती, क्योंकि विशेष ज्ञान के विना दुःख-शोक नहीं होता। तो क्या इसका यह अर्थ समझा जाय कि रोना ज्ञान का फल है? जो बुद्धि रोने का आविष्कार करती है, उसे रोना मिटाने के कार्य मे क्यों नहीं लगाते? क्या समझदारी का यह नतीजा है कि रो-

रो कर आत्मा का नाश किया जाए ? आग लगाने वाला मूर्ख होता है, जो उसे शान्त करना है वह बुद्धिमान कहलाता है। जो रोना बढ़ावे वह अ ान है और जिससे रोना कम हो वही ान है।

ऐसा ज्ञान शा से प्राप्त होता है। और आत्मा की नित्यता का प्रतिवादन करने के लिए ही शास्त्र में नारकी आदि जीवों की तथा उनकी वेदनाओं की विवेचना की गई है।



वे हगति और देव- वन

मूलप

श्न जीवेणं भंतेः किं वि गहग समा वगणए, आवि ग समावण्ण ?

उत्तर गेयमा ! सिय वि ग ग सम वगणगे, सिय अ ग ग सम वगणगे, वं ज व वे ािए

न जीवाणं भंते ! कं वे ग ग स णणय, अवि ग स । णणया ?

उत्तर गोयम ! वि हग समावगणगा वि, अवि गहइस व गा वि !

श्न—नेरइया णं भंते ! किं वि गहगइ

समावरणगा, अविग्गहगइसमावरणगा ?

उत्तर गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज अविग्गहगइसमावन्नगा। अहवा अविग्गहगति समाव गगा, विग्ग गइसमावन्नगेय। अहवा अविग्गहगइसमावन्नगा य, विग्गहग समाव गा य। एवं जीव-एगिंदियवज्जो तियभंगो।

श्न—देवेणं भंते! हिड्ढिए, महज्जुइए म ब्बले, महाय , सक्खे, म णुभावे अवि उक्कंतियं चयमाणे किंचिका रिवत्तियं, दुगंछवत्तियं, परिस वत्तियं आ र नो आहारेइ अहेणं हारेइ, आ रिज्जमाणे आ रिए, परिणामिज्ज णे परिणामिए, पहिणे य आउए भवइ। जत्थ उववज्जइ तं आउयं पडिसंवेदेइ तं तिरिक्खजोणियाउयं वा, णुस्साउयं वा ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! देवेणं महड्ढिए

जाव— .णुए ाउयं वा ।

संस्कृत-छाया

प्रश्न—जीवो भगवन् ! किं विग्रहगतिसमापन्नकः, अविग्रहगतिसमापन्नकः ?

उत्तर—गौतम ! स्याद् विग्रहगतिसमापन्नकः स्याद् अविग्रहगतिसमापन्नकः, एव यावद् वैमानिकः ।

प्रश्न—जीवा भगवन् ! किं विग्रहगतिसमापन्नकाः, अविग्रहगतिसम्पन्नकाः ?

उत्तर—गौतम ! विग्रहगतिसमापन्नका अपि, अविग्रहगतिसमापन्नका अपि ।

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! किं विग्रहगतिसमापन्नकाः, अविग्रहगतिसमापन्नकाः ?

उत्तर—गौतम ! सर्वेऽपि तावद् भवेयुरविग्रहगतिसमापन्नकाः । अथवा अविग्रहगतिसमापन्नकाश्च, विग्रहगतिसमापन्नकश्च । अथवा अविग्रहगतिसमापन्नकाश्च, विग्रहगतिसमापन्नकाश्च । एव जीव-एकेन्द्रियवर्जस्त्रिभङ्गः ।

प्रश्न—देवो भगवन् ! महर्धिकः, महाद्युतिकः, महाबलः, महायशः, महेशाख्यः, महानुभावः, अव्युत्क्रान्तिकम् (अव्यवक्रान्तिकम्) च्यवमानः किञ्चित् कालं ह्रीप्रत्ययं, जुगुप्साप्रत्यय, परिषह-प्रत्ययं आहार नो आहारयाति । अथ आहारयाति, आह्रियमाणं आहृतम्, परिणाम्यमानं परिणाम्, प्रहीणं चायुष्कं भवाति । यत्र उपपद्यते तदाऽऽयुष्कं प्रातिसंवेदयाते । तत् तिर्यग्योन्यायुष्कं वा, मनुष्यायुष्कं वा ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! देवो महार्धिको यावत्—मनुष्यायुष्कं वा ।

र्थ—

प्रश्न—भ न् ! क्या वि वि हगति ो प्रा है या वि हगति ो प्रा है ?

उत्तर—गौतम ! भी वि हगति को प्रा है और कभी अवि ह ति ो प्राप्त है । इसी प्र ार वैमानि तक जानना ।

प्रश्न—भगवन् ! बहुत जीव वि ह ति ो प्राप्त है या अवि ह ति को प्राप्त है ?

उत्तर—गौतम ! ब त जीव वि ह वि ो भी प्रा है और अविग्रहगाति को भी प्रा है ।

र वन् ! र ी जीव वि ि ो ˜
। ˜ ि ो प्रो हैं ?

र गौ ! ी विग्र ति ो ए ैं।
अथवा ु से ि इगा ो ाप्त ैं ैर ोई-ोई
वि ति ो ाप्त है। थवा हुत ें वि गा ो
प्राप्त हैं और बहुत ें वि ह ि ो प्राप्त हैं। ी ार
नि र भं ।। ि वि (। ान्य)
ैार ए ेन्द्रिय ैं ती ं नहीं ।।

—भ न् ! ान् द्धि वा ।, हान् ुति
वा ।, ।ु वा ।, ी ैं वा ।, ।। र्थ्य
। र – । में च्य ने ाला हे । क देव
ज्जा ें ारण, णा ें ारण, परीष ें ारण
ाहार ी र ।। ि र । ार र हैं
ैार ि या ु । । ार परि त भी ोता ैं, ैार
ें देव ी ायु र्वं । ो जाती ैं, इ ि ए वह
दे ां उत्पन्न ें है वहां ी ायु भो ता ैं। तो हे
गवन् ! वह ु ि र्यंच । स भ्रा जा या नुष्य
।- भ्रा ाय ?

र— ! हाऋद्धि वा देव । यावत्
त्यु प ात् नुष्य । भी आयुष्य भी समझना चाहिए।

ठ ाख्र । —

आना-जाना, गमनागमन से होता है, अतः अव गौतम स्वामी गमन-आगमन के विषय में प्रश्न करते हैं। गौतम स्वामी पूछते है–भगवन्! जीव विग्रहगति वाला होता है या अविग्रहगति वाला होता है? भगवान् उत्तर देते है–जीव विग्रहगति वाला भी होता है और अविग्रहगति वाला भी होता है। अर्थात् जीव में दोनों प्रकार की अवस्थाएँ हो सकती हैं।

विग्रह का अर्थ है–मोड़ खाना–मुड़ना। जीव जब एक शरीर छोड़ कर दूसरा नया शरीर धारण करने के लिए गति करता है, तो उसकी गति दो प्रकार की हो सकती है। कोई-एक जीव एक, दो या तीन बार मुड़ कर उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचता है और कोई जीव बिना मुड़े, सीधा अपने उत्पत्तिस्थान पर पहुँच जाता है। जब उत्पत्तिस्थान पर जाने के लिए मोड़ खाना पड़ता है तब वह गति विग्रहगति कहलाती है। जब बिना मुड़े-सीधा ही चला जाता है, तव उस गति को अविग्रहगति कहते हैं। जीव जब ठहरा हो, गति न कर रहा हो तब भी उसे अविग्रह वाला यहाँ समझना चाहिए और जब सीधी गति कर रहा हो तब भी अविग्रहगति

वाला समझना चाहिए। अविग्रहगति वाले के यहां दोनों अर्थ विवक्षित है, ऐसा टीकाकर कहते हैं। यद्यपि प्राचीन टीकाक ने अविग्रहगति का अर्थ सिर्फ सीधी (विना मोड़ वाली) गति ही लिया है, मगर ऐसा लेने से और अविग्रहगति का अर्थ ठहरना न करने से नारकी जीवों में अविग्रहगति वालों की जो बहुलना बतलाई है, वह संगत नहीं बैठ सकेगी।

शास्त्रकारो ने जीव की विग्रह और अविग्रह अर्थात् टेढी और सीधी–इस तरह दो प्रकार की गति बतलाई है। यद्यपि इस वर्णन में अनेक बड़े–बड़े रहस्य ि पे हैं, किन्तु बहुत सूक्ष्म बातें न बतलाकर कुछ स्थूल बातें ही आपको बतलाता हूं। यह तो सभी जानते हैं कि चित्त की गतियां, टेढी, और सीधी–दो प्रकार की है। अपने मन की किस समय, कौनसी गति होती है, यह समझ सकना भी अपने लिए कठिन कार्य है तो दूसरे के मन की बात तो समझी ही कैसे जा सकती है ?

कई लोग चित्त की चचंलता को सर्वथा ही रोक देने की चेष्टा करते हैं और उसी में कल्याण समझते हैं, किन्तु ऐसा होना दु:साध्य है। ज्यो-ज्यों आप चित्त को रोकने का प्रयत्न करेंगे, वह अधिकाधिक चंचल होता जायगा। अतएव उसे सर्वथा रोकने का विचार छोड़कर उसकी चाल चौकसी करना और उसे टेढ़ा-मेढ़ा जाने से रोकना ही अधिक व्यवहार्य है। किसी अच्छे

प्रकार के चिन्तन मे फँसाये रहने से ही मन टेढ़ी चाल से बचत है। ली रहने पर वह बड़ा उत्पात् मचाता है। इस संबंध में एक उदाहरण लीजिए:—

एक मनुष्य किसी सिद्ध पुरुष की सेवा करता था। सिद्ध ने उसकी मनोकामना पूछी। सेवक ने कहा—महाराज ! मैं खेती कर-कर के मरता-पचता हूँ, फिर भी पेट नहीं भर पाता। इससे विपरीत जब म नगर में जाकर नागरिक लोगों को देखता हूँ तो वे अल्प परिश्रम करके भी खूब मजा-मौज लूटते हैं। मै साल भर में जितना कमाता हूँ, उतना वे एक ही दिन म उड़ा देते हैं। उन्हें देखकर म भी उन्हीं सरीखा धनी बनना चाहता हूँ। इसी इच्छा से आपकी सेवा कर रहा हूँ।

सिद्ध बोले—ठीक, मैं तुझे एक मंत्र बतलाता हूँ। उसका जाप करने से एक भूत तेरे कब्जे मे हो जायगा। वह तेरा सब काम किया करेगा और तेरी समस्त इच्छाएँ पूरी करता रहेगा।

किसान ने मंत्र लिया और उसकी साधना की। साधना से भूत आया। बोला—अब मै तुम्हारे आधीन हूँ। किन्तु एक भी क्षण मैं बेकार नहीं रहूँगा। अगर बेकार रहा तो तुम्हे खा जाऊँगा। यह मेरा स्वभाव है।

किसान ने यह बात स्वीकार कर ली। फिर उसने भूत को

काम व ाना शुरु किया। खेत जोतना, बोना, मकान बनाना, योगोपयोग की सामग्री प्रस्तुत करना, आदि सभी कार्य उसने व की त में पूरे कर दिये। यह सब काम पूरे करके भूत ने कहा—अब क्या करना है ? काम बताओ, नहीं तो तुम्हें खाता हूँ।

किसान ने घबराकर कहा—भाइ, थक गये होओगे। अब कुछ देर विश्राम कर लो। फिर काम बतला दूंगा।

भूत—अगर कोई काम न बतलाया तो मैं अपने नियम के अनुसार अभी तुम्हें जाऊँगा।

किसान सकपकाया। सोचने लगा—इसकी अपेक्षा तो मैं पहले ही अच्छा था। उस मय यह । तो नहीं थी। अब इससे किस प्रकार पिंड छुड़ाया जाय ! क्यों न उन्हीं सिद्ध पुरुष की सेवा में जाऊँ और उन्हीं से अपनी रक्षा की भिक्षा मांगू।

उसने भूत से कहा—तू मेरे पीछे-पीछे चल, अभी यही काम बतलाता हूँ। इस प्रकार दोनो सिद्ध पुरुष के प पहुंच कर सिद्ध पुरुष से किसान ने कहा—महाराज ! आप अपना भूत सँभालिए ! बाज आये इससे ! कहाँ तक इसे काम बताऊँ ? अगर कभी न बतला पाया तो मुझे खा जायगा ! ऐसे भूत की मुझे आवश्यकता नहीं। न जाने कब मुझे खा जाय !

सिद्ध ने किसान को सान्त्वना देते हुए कहा—भाई, डरो मत। इसे एक खंभा बनाने का काम बतलादो। किसान ने सिद्ध

के कथनानुसार भूत को खंभा बनाने का काम बता दिया। भूत ने पल भर में खंभा तैयार कर दिया। तब सिद्ध ने कहा—अब इसे कह दो कि जब मैं जो काम बताऊँ, तब वह काम करना। शेष समय में इस खंभे पर चढ़ते-उतरते रहना। भूत चढ़ने-उतरने लगा।

इस चढ़ने उतरने से भूत हैरान हो गया। उसने कहा--माफ करो भाई, मैं तुम्हारे बुलाने पर आ जाया करूँगा। शेष समय मे, कार्य न होगा तो तुम्हें नहीं खाऊँगा।

किसान भी यही चाहता था। उसने प्रसन्नतापूर्वक भूत की बात मान ली। भूत अपना पिंड छुड़ाकर भागा और किसान ने अपना पिंड छूटा जान संतोष की सांस ली और अपने घर आ गया।

यह उदाहरण सिर्फ मनोरंजन के लिए नहीं है। इसमें अनेक तत्व भरे हैं। जैसे किसान ने पैदा किया, उसी प्रकार आत्मा ने मन पैदा किया है। भूत काम मे लगे रहने पर शान्त रहता है और खाली होने पर खाने दौड़ता है। इसी प्रकार मन भी निरन्तर क्रियाशील रहना चाहता है खाली रहना उसे पसंद नहीं, उसे कोई न कोई चटपटी बात सदैव चाहिए। जब यह निकम्मा रहता है तो हमें खाने दौडता है और इतना खाता है कि पागल बनाकर छोडता है। यह भूत कोई साधारण नही है।

सभी के पीछे यह पडा हु   है। जब इसके लिए कोई काम न रहे तो इसे खंभा वता देना चाहिए, जिसपर वह चढ़-उतरता रहे। वह खंभा कौन-सा है ? भगवत भजन का ।

तुम   रन विन इण   लियुग में   वर न को   ाधारो।
   ारीझाऊँ तो   मरन पर, दिन दिन प्रीत वधारो ॥

पद्म प्रभु पावन नाम तिहारो ॥

इस प्रार्थना पर ध्यान दो। अगर तुम अपने आत्मा को चक्कर डालोगे तो कभी अन्त नहीं आएगा। अत एव इसे काम वताकर संतोष करो। जब इसे कोई काम नहीं होता तो यह बुरे रास्ते जा कर चक्कर मे फॅस जाता है। लोग अपनी इच्छाओं की पूर्ति न होने के कारण नास्तिक वन जाते हैं। विवेकानन्दजी ने लिखा है—यूरोप के वहुत-से लोग केवल मानसिक दु:खों से छुटकारा पाने के लिए मदिरा पीना आरम्भ कर देते हैं। मगर यह उल्टा इलाज है। यदि वे मन को ऊपर वतलाये हुए ईश्वरभक्ति रूपी खंभे पर चढ़ावें-उतारें तो मानासिक दु:ख समीप ही नही आ सकता। मगर सिद्ध का शरण लिए विना उन्हे यह युक्ति वतलावे कौन ? मन जब इस काम में लग जायगा तो फुर्सत नहीं पाएगा और न हमें खायगा। भगवद्-भजन से अनेक लाभ होते हैं। सव से प्रथम लाभ तो यह है कि भगवान् का भजन करने से भक्त को

दिव्य प्रसन्नता का अनुभव होता है। जो भजन करना जानता है, वह कभी रोता नहीं। बड़े से बड़ा कष्ट आ पड़ने पर भी वह समान रूप से प्रसन्न रहता है। मगर लोगों की गति-मति विपरीत हो रही है। प्रसन्नता का इतना सुन्दर साधन रहते भी वे मदिरा-पान द्वारा प्रसन्नता का अनुभव करने का प्रयत्न करते हैं।

भजन करने से मन रूपी भूत हमारे वश में हो जाता है। मन सारी शक्तियो का खजाना है। मन ही स्वर्ग, मोक्ष, वंध, नरक, आदि का कारण है। तुकाराम ने कहा है–तुम मन को प्रसन्न करो तो वह तुम्हारे लिए सब कुछ कर सकता है। लेकिन उसे ऐसा प्रसन्न करो कि फिर कभी वह अप्रसन्न न हो। छोटी-मोटी चीजे देकर उसे कुछ देर के लिए वहला लेना ही उसे प्रसन्न करना नहीं है। ऐसी प्रसन्नता क्षणिक हैं और उसके पश्चात् फिर अप्रसन्नता का उदय होता जाता है। यह प्रसन्नता नहीं है, वल्कि उसे पागल वना देना है। मन को ऐसी चीज दो जिससे वह स्थायी प्रसन्नता प्राप्त कर सके। उचित्त रूपसे प्रसन्न होगा तो वह तुम्हे सब कुछ दे सकेगा। स्थायी प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए भगवद्-भजन ही सर्वोत्तम साधन है। ईश्वर के नाम-स्मरण से भ्रान्ति दूर होगी। नाम, भले ही कोई भी हो, मगर हृदय को छूने वाला चाहिए। अनन्त के अनन्त नाम हैं। उनमें से ओंकार में किसी का मतभेद नहीं है। अतः भेद भाव छोडकर सभी लोग

समान भाव से 'ॐ' का जाप कर सकते हैं। भक्ति से मन स्थिर होगा तो जन्म मरण बंद हो जायगा।

मन की एकाग्रता का प्रभाव ही आजकल 'मैस्मेरेजम' विद्या के नाम से प्रसिद्ध है। मन की शक्ति से लोग जहाजों तक को उलट देने मे सफल होगये हैं। आजकल इस विद्या के प्रभाव से बच्चों को बेहोश करके अधर उठा दिया जाता है। यह सब मानसिक शक्ति ही का प्रभाव है। जो मानसिक शक्ति इतनी प्रबल है, उसे व्यर्थ मत गँवाओ। वृथा बुरी-भली बाते सोचने से क्या लाभ है ? होगा वही जो होना है। अगर थोड़े दिन भी एकाग्र-भाव से ॐ का ध्यान का करोगे तो तुम्हारे हृदय मे एक विचित्र शक्ति उत्पन्न हो जायगी। अपनी जिह्वा और अपने नेत्रों को यदि समुचित रूप से अपने अधीन रखने की आदत डालो तो तुम्हारा चित्त शीघ्र ही वश मे हो जायगा। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मौन रखने से मन की शा बढ़ती है। मैंने मौन के गुणों का स्वयं अनुभव किया है। मौन सर्वश्रेष्ठ है, मगर जगत् क व्यवहार बोले विना नहीं चलते। इस लिए अल्पभाषी होकर अपनी चित्तवृत्ति पर ध्यान रक्खो। देखते रहो, वह क्या करता है और कहाँ जाता है !

चित्त की अविग्रहगति रहनी चाहिए। अर्थात् उसकी गति टेढ़ी नही होनी चाहिए। मन चले या बैठा रहे, मगर सीधा रहे।

भूत की तरह हमें खाने वाला न बने । सदा ईश्वर-भक्ति में तल्लीन रहे, बुरे विचारों में न पड़े, यही चित की अविग्रहगति है।

मन से अच्छे कार्य कर लेने चाहिए । जो कार्य हमें दूसरों से छिपाने पड़े, उन्हे बुरा काम समझना चाहिए। जो कार्य अच्छे समझकर करोगे, उनमे चाहे आरंभ भी हो, मगर वह प्रायः अल्पारंभ ही होगा । जितने कार्य छिपाये जाते हैं, वे सब महारंभ पूर्ण समझने चाहिए । विवाह के समय लोग अपने संबंधियों को आमंत्रित करते है और धूमधाम करते हैं, किन्तु जब व्याभिचार के लिए जाते है तब लुक-छिपकर चोरो की तरह जाना पड़ता है । बस, यही अल्पारंभ और महारंभ का भेद है । यद्यपि आरंभ दोनो मे है, मगर एक में कम और दूसरे मे अधिक है। इसीलिए कहता हूँ—चुपके-चुपके किये जाने वाले कार्य छोड़ दो तो बहुत-से पाप अपने आप दूर हो जाएँगे। उस समय मन की विग्रहगति मिटकर सीधी-अविग्रहगति हो जायगी ।



गर्भ शा

मू पा —

श्न जीवे णं भंते! गब्भं वक्कममाणे किं सइंदिए वक्कमइ, अणिंदिए वक्कमइ ?

उत्तर— गोयमा! सिय सइंदिए वक्कमइ, सिय अणिंदिए वक्क इ।

न—से णट्ठेणं ? भंते एवं वुच्चई सिय इंदिए वक्कमई सियअ०

उत्तर गोयमा ! दव्विंदियाइं पडुच्च अणिंदिए वक्क ई, भाविंदियाइं पडुच्च सइंदिए वक्कमइ। तेण णं०।

श्न—जीवे णं भंते! गब्भं वक्कम णे किं ससरीरी व मइ, असरीरी वक्कमइ ?

उत्तर गोयमा ! सिय ससरीरी वक्कमइ, सियअसरीरी वक्कमइ ।

श्न—से एणट्ठेण ?

त्तर गोयमा ! ओरालिय-वेउव्विय-आहारयाइं पडुच्च असरीरी वक्कमइ, तेया-म्माइं पडुच्च ससरीरी वक ई, तेणट्ठेणं गोयमा !

श्न—जीवे णं भंते ! गब्भं वक्क माणे प्पढ याए किं आ रं आ रे ?

उत्तर—गोयमा ! माउओयं, पिउसुक्कं तं तदुभयसंसि कलुसं, किव्विसं तप्पढमयाए आ रं आहारे ।

श्न—जीवे णं भंते ! गब्भगए माणे किं आहारं आहारे ?

उत्तर–गोयमा! जं से ।या।नाणावि । रसविगतीओ आ ।रं आहारेइ, तदेकदेसेणं ओयं आहारेइ ।

प्रश्न–जीवस्स णं भंते ! गब्भगयस समाणस्स अत्थि उच्चारेइ वा, पासवणे व, खेले इ वा, सिंघाणे वा, वंते इ व, पित्ते इ वा ?

उत्तर—णो णट्ठे स ट्ठे ।

श्न— केणट्ठेणं ?

उ र गोयमा ! जीवे णं गब्भ ए माणे जं आहारेइ तं चिणइ, तं सोइंदिय ।ए जाव–फासिंदियत्ताए, आट्ठि अ–मि -केस-सु-रोम-न त्ताए, से तेणट्ठेणं० ।

श्न–जीवे णं भंते । ब्भगए समाणे पभू हेणं कावा यं आहारं आहारित्तए ?

उत्तर-गोय ।! णो णट्ठे समट्ठे ।

श्न-से ेणट्ठेणं ?

उत्तर-गोय ।! जीवे णं गब्भगए समाणे ्वओ आहारेइ, सव्वओ परिणामेइ, सव्वओ उस्ससइ, सव्व ो निस्ससइ, अभिक्खणं आहारेइ, अभिक णं परिणामेइ, अभिक्खणं उस्ससइ, अभिक णं ि स्ससइ, आहच्च आहारेइ, आहच्च परिणामेइ, आहच्च उस्ससइ, आ च्च निस सइ, मा जीवरसहरणी, पुत्तजीवरसहरणी ाउजीव पडि बद्धा, पु जीव फुडा तम्हा आ ारेइतम्हा प णामेइ, वरा वि य णं पुत्तजीव पडि बद्धा ाउजीव फुडा तम ा चिणइ, तम्हा उवचिणइ, से तेणट्ठे णं जाव नो पभू ेणं कावा यं आहारं आहारित्ताए ।

छ त-छाया

प्रश्न-जीवो भगवन् ! गर्भ व्युत्क्रामन् किं सन्द्रियो व्युत्क्रामति अनिन्द्रियो व्युत्क्रामति ।

उत्तर—गौतम ! स्यात् सेन्द्रियो व्युत्क्रामति, स्याद् अनिन्द्रियो व्युत्क्रामति ।

प्रश्न—तत्केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! द्रव्येन्द्रियाणि प्रतीत्य अनिन्द्रियो व्युत्क्रामति, भावेन्द्रियाणि प्रतीत्य सेन्द्रियो व्युत्क्रामति ! तत्तेनार्थेन ?

प्रश्न—जीवो भगवन् ! गर्भे व्युत्क्रामन् किं सशरीरी व्युत्क्रामति, अशरीरी व्युत्क्रामति ?

उत्तर—गौतम ! स्यात् सशरीरी व्युत्क्रामति, स्याद् अशरीरी व्युत्क्रामति ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! औदारिक-वैक्रिय-आहारकाणि प्रतीत्य अशरीरी व्युत्क्रामति । तैजसकार्मण प्रतीत्य सशरीरी व्युत्क्रामति । तत् तेनार्थेन गौतम !

प्रश्न—जीवो भगवन् ! गर्भं व्युत्क्रामन् तत्प्रथमतया कम् आहारम् आहारयति ?

उत्तर—गौतम मातृ-ओजः, पितृशुक्र तत् तदुभयसंश्लिष्टं कलुषम्, किल्बिष तत् प्रथमतया आहार आहारयति ।

प्रश्न—जीवो भगवन् ! गर्भगतः सन् कम् आहारयति ?

उत्तर—गौतम ! यत् तद्-माता नानाविधा रसविकृतीराहारम् आहारयति, तदेकदेशेन ओज आहारयति ।

प्रश्न—जीवस्य भगवन् ! गर्भगतस्य सतः अस्ति उच्चार इति वा, प्रस्रवणमिति वा, खेल इति वा, शिङ्घानकमिति वा, वान्तमिति वा, पित्तमिति वा ?

उत्तर—नायमर्थः समर्थः ।

प्रश्न—तत्केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! जीवो गर्भगतः सन् यदाहारयति तत् चिनोति, तत् श्रोत्रेन्द्रियतया यावत् स्पर्शेन्द्रियतया, अस्थि-अस्थिमज्जा-केश-श्मश्रु-रोम-नखतया, तत् तेनार्थेन ।

प्रश्न—जीवो भगवन् ! गर्भगतः सन् प्रभुर्मुखेन कावलिकम् आहारम् आहर्त्तुम् ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! जीवो गर्भगतः सन् सर्वत आहारयाति, सर्वतः परिणामयाति, सर्वतः उच्छ्वसति, सर्वतः निःश्वसति, अभिक्षणम् आहारयाति, अभिक्षणम् परिणामयाति, अभिक्षणम् उच्छ्वसति, अभिक्षणम् निःश्वसति । आहत्य आहारयाति, आहत्य परिणामयाति, आहत्य उच्छ्वसति, आहत्य निःश्वसति, मातृजीवरसहरणी, पुत्रजीवरसहरणी, मातृजीवप्रतिबद्धा पुत्रजीवस्पृष्टा, तस्माद् आहारयाति, तस्मात् परिणामयति, अपराऽपि च पुत्रजीवप्रतिबद्धा मातृजीवस्पृष्टा तस्मात् चिनोति, तस्माद् उपचिनोति, तत् तेनार्थेन यावत्—नो प्रभुमुखेन कावलिकम् आहारम् आहर्त्तुम् ।

शब्दार्थ—

श्न—भ वन् ! र्भ उत्प हो । हुवा जीव क्या नि य वा । उत्प ो या बिना इन्द्रिय । उत्पन्न ोता है ?

उत्तर—गौत ! इन्द्रिय वा । भी उत्पन्न होता हैं और बि । इन्द्रिय । भी उत्पन्न होता ।

—भ वन् ! ो ि कारण ?

त्तर ौत ! द्रव्येन्द्रियों ी अपेक्षा बिना इंद्रियों ा उत्पन्न होता है ौर भावेन्द्रियों ी पेक्षा इन्द्रियों स ि त उत्प होता है । इ ि ए ौतम ? ऐ ा हा है ।

प्रश्न—भ वन् ! र्भ मे उपजता जीव शरीर सहित त्पन्न होता है या रीर-रहित उत्पन्न होता है ?

उत्तर— ौतम ! रीर-सहित भी उत्प होता है ौर रीर-रहित भी उत्प होता है ?

प्रश्न—भ वन् ! ो ैसे ?

उत्तर - हे ौतम ! ौदारि , वै ि य ौर ाहार शरीरों ी अपेक्षा रीर-रहित उत्पन्न होता है तथा तैजस-कार्मण शरीरों ी पेक्षा रीर- हित उत्पन्न होता है । इ ारण ौतम ! ऐसा हा है ।

प्रश्न—भगवन् ! जीव गर्भ में उत्पन्न होते ही क्या आहार रता है ?

उत्तर—हे गौत ! ापस में एक दूसरे में मिला हु माता का र्तव और पिता ा वीर्य, जो कलुष और किल्विष है, जीव गर्भ में उत्पन्न होते ही उसका आहार ता है ।

प्रश्न—भ वन्! र्भमें ा हु ।' ीव या । । े?

उत्तर— ौत ! र्भ े या ी, ाता द्वारा ाये ए ने प्र ार े र वि ारों े ए े । । । । ीव ाता े ।

प्रश्न—भ वन्! र्भ े या ीव े ो े! मूत्र होता े? ो । े? ना । मै ेता े? व न ो । े? पित्त ो । े?

उत्तर— ौत ! यह ी े-य हीं ो े ।

श — वन्! ो े े?

उत्तर— ौ ! र्भ े ा र जी ो ार । । े जिस ाहार ा च र । है, ाहार ो श्रोत्र े रूप में यावत् स्पर्शेन्द्रिय े प े, हड्डी े रूप में, मज्जा े रूप े, े रूप े, दाढ़ी े रूप में, रोमों के रूप में और नखों े रूपमें परिणत कर । है। इस ि ए हे गौतम! गर्भ में ये जीव े म ादि नहीं होते।

प्रश्न—भगवन् ! र्भ में या जीव मुख द्वारा व-
ार- ास रूप आहार-करने में समर्थ है ?

उत्तर—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है-ऐसा नहीं
हो कृता ।

प्रश्न—भगवन् ! सो क्यों ?

उत्तर--गौतम ! गर्भ में या जीव सर्व आत्म से
(ारे शरीर ` ) आहार करता है, सारे शरीर ` परिणमाता
है, र्व- ात से उच्छ्वास लेता है, सर्व-आत्म से निश्वास
` ता है, र-बार ाहार करता है, बार-बार परिणमाता
है, बार बार उच् ्वास ` ता है, बार-बार निश्वा लेता है।
ाचित् ाहार रता है, दाचित् परि ाता है, कदा-
चित् उच् ्वा लेता है, कदाचित् निश्वा ` ता है। तथा
पुत्र ीव ो र पहुंचाने में ार भूत और ाता ` र
` ने में ारणभूत जो मातृजीव-र हरणी नाम ी नाड़ी है,
वह माता ` जीव ` साथ संबद्ध ` ौर त्र ` जीव `
साथ ी हुई है। उस नाड़ी द्वारा पुत्र । जीव ाहार
ले है ौर आहार को परिण ाता है। तथा एक ौर.
नाड़ी है जो पुत्र के जीव के साथ संबद्ध है और ाता के
जीव ` जुड़ी हुई है। उससे त्र । जीव आहार । चय

करता है और उपचय र ा है । ै ा ! इस ार
र्भ- त जीव ख द्वारा .व रूप ा ार ने में
नहीं है ।

व्याख्यान-

पहले विग्रहगति का विचार किया गया था। विग्रहगति एक दो, तीन या कभी-कभी चार समय में समाप्त हो जाती है। इस अल्पकाल मे ही जीव पहले का शरीर छोड़कर नये उत्पत्तिस्थान पर पहुँचते समय अर्थात् गर्भ मे प्रवेश करते समय और गर्भ में रहते समय जीव की क्या स्थिति होती है, इस विषय मे गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किये हैं। अब उन्हीं पर विचार किया जाता है।

गौतम स्वामी पूछते हैं-भगवन् ! गर्भ में उत्पन्न होते समय जीव के इन्द्रियां होती है या नहीं होती ?

इन्द्रिय का अर्थ कान, नाक, आंख, जीभ और त्वचा है। इन्हीं के विषय मे यहां प्रश्न किया गया है। व्यवहार मे ऐसा मालूम होता है कि जीव जब गर्भ मे जाता है, तो उसके इन्द्रियां नहीं होती, वरन् पहले-पहले मांस का पिंड बनता है, फिर इंद्रियां बनती हैं। गौतम स्वामी पूछते हैं कि व्यवहार में जैसा माना जाता है, यह ठीक है या इसमे और कोई भेद है ?

गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया–हे गौतम! किसी अपेक्षासे जीव इन्द्रिय–सहित गर्भ मे आता है, और किसी अपेक्षा से इन्द्रिय रहित गर्भ मे आता है। अर्थात् द्रव्येन्द्रियों की अपेक्षा इन्द्रिय रहित आता है और भाव–इन्द्रियों की अपेक्षा इन्द्रिय–सहित आता है। गर्भ मे आते समय जीव के द्रव्येन्द्रियां नहीं होतीं, भावेन्द्रियां होती है।

अब यह भी देख लेना चाहिए कि द्रव्येन्द्रिय और भावेंद्रिय किसे कहते है ? निर्वृत्ति और उपकरण, यह द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं। जो भाव को ग्रहण करे उसे द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। द्रव्येन्द्रिय पौद्गलिक रचना विशेष है। द्रव्येन्द्रिय मे एक उपकरण है, एक नि त्ति है। कान की अमुक आ त्ति निर्वृत्ति कह ती है। उसका सहायक उपकरण कहलाता है। किसी के कान एक प्रकारके और किसी के दूसरे प्रकार के हे हैं। छोटे और बड़े दोनों प्रकार के कानो से सुनाई देता है किन्तु कान की बनावट मे प्र तिक अंतर होता है। लम्बे और मांस मे भरे कानों की श और प्रकार होती है तथा छोटे तथा मांसहीन कानों की कुछ और ही प्रकार का सामर्थ्य होती है। बहरे आदमी के यह ऊपरी कान बने रहते है मगर सुनने की शक्ति उसमें नही होती। उपकरण कान वह है, जिनके विना सुनना असंभव है। यह उपकरण और निर्वृति-दोनो ही द्रव्येन्द्रिय है। जीव गर्भ मे द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा इन्द्रिय रहित ही आता है, परन्तु भावेन्द्रिय लेकर आता है।

भावेन्द्रिय के भी दो भेद हैं-लब्धि और उपयोग। लब्धि का अर्थ है-शक्ति जिसके द्वारा आत्मा, शब्द का ज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ होता है, उसे लब्धि-इन्द्रिय कहते हैं। मगर लब्धि होने पर भी अगर उपयोग न हो तो काम नहीं चल सकता। उपयोग के अभाव में सुनना न सुनना बराबर है। योग्यता अर्थात् लब्धि तो हो मगर उपयोग न हो तो लब्धि बेकार है। लब्धि के होते हुए भी उपयोग लगाने से ही काम चलता है। लब्धि का अर्थ ग्रहण करने का सामर्थ्य और उपयोग का अर्थ ग्रहण करने का व्यापार है। इन दोनो भावेन्द्रियो के साथ जीव गर्भ में आता है।

जीव गर्भमें भावेन्द्रिय-सहित आता है, इस बातका विश्वास कराने के लिए उसका कारण भी बतलाते हैं। अगर द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय-दोनों को ही गर्भ मे उत्पन्न माना जाय तो फिर आत्मा भी पहले का न रहेगा। अगर आत्मा पहले का और परलोक से गर्भ में आया हुआ माना जाय तो फिर यह भी मानना होगा कि वह परलोक से कुछ लेकर आता है। अगर साथ में कुछ न लाया हो तब तो जन्म लेने वाले सभी बालक एक ही तरह के होने चाहिए, मगर वस्तु स्थिति इससे भिन्न प्रतीत होती है। एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न होने वाले बेटो में कोई अंधा और कोई सूझता होता है, कोई बहिरा और कोई सुनने वाला होता है। आत्मा गर्भ में आते समय यदि कुछ भी अपने साथ न लाया

होता तो यह अन्तर क्यों पड़ता ? इस अन्तर के कारण यह स्पष्ट है कि आत्मा गर्भ में आते समय अपने साथ भी कुछ लाता है और अपने साथ भाव-रूपमें जो कुछ लाता है, उसीसे द्रव्येन्द्रियां बनती है।

कदाचित् कोई कहने लगे कि हमने तो ऐसा देखा नहीं, तब उससे पूछना चाहिए कि क्या आपने यह देखा है कि गर्भ में आने वाला जीव भावेन्द्रिय-सहित नही आता है ? अर्थात् भावेन्द्रिय-रहित आता है ? अगर आपने यह भी नहीं देखा है तो फिर . नियो की बातके सामने आपकी बात कैसे मान्य हो सकती है ? इसके सिवा, गर्भ में जीव भावेन्द्रिय-सहित आता है यह कहकर ज्ञानियो ने आपको भोग-विलास करने का आदेश-उपदेश दिया होतो उनकी बात भले ही न मानों, परन्तु उनका कहना तो यह है कि यह इन्द्रियां बड़ी कठिनाई से मिली हैं। गंभीर विचार करके इनका सदुपयोग करो। ऐसी अवस्था में ानियों की बात शंकास्पद कैसे हो सकती है ?

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! जीव गर्भ में शरीर सहित आता है या शरीर-रहित आता है ?

शीर्यते-इति शरीरम्। अर्थात् जो क्षण-क्षण में नष्ट होता रहता है अथवा जिसमे आत्मा व्याप्त होकर रहता है, वह शरीर कहलाता है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तरमें भगवान्ने फर्माया-गौ , आत्मा एक अपेक्षा से रीर- हित गर्भ में है, र दूसरी अपेक्षा शरीर-रहित भी आ है।

प्रश्न हो सकता है, एक ही प्रश्न के उत्तर मे यह परस्पर विरोधी बातें किस प्रकार कही गई है ? भगवान् कहते हैं-- यही है। किसी भी को अनेक दृष्टिकोणों से देखो तभी वह पूरी और सत्यरूप में दि ाई देगी।

ह ोग स्थ हैं। हमें एक पक्ष देखकर दूसरे पक्ष पर विश्वास कर चाहिये। दो पक्ष ज्ञानी दे सकते हैं। छद्मस्थ भी सूक्ष्म और स्थूल बातें देखना चाहते हैं। परंतु यह नहीं समझते कि अगर हम जानने लगें तो हम और ईश्वर में न्तर ही रहेगा? और ईश्वरत्व क्या सहज ही मिल जाता है? उसके लिए न जाने कितने प्रबल प्रयत्न की ावश्यकता है।

भगवान् फर्माते हैं—गौतम ! शरीर दो प्रकार के हैं—स्थूल और सूक्ष्म। औदारिक, वैक्रिय और आहारक, यह तीन शरीर स्थूल हैं और तेजस तथा कार्मण रीर सूक्ष्म हैं। जीव गर्भ मे तैजस एवं कार्मण शरीरों के साथ आता है, अतएव वह इन सूक्ष्म शरीरों की अपेक्षा शरीर- हित आता है। स्थूल शरीर

मां के पेट में बनता है, इस अपेक्षा से शरीर-रहित आता है। आत्मा, संसार-अवस्था में कभी अशरीर नहीं होता। अशरीर आत्मा तो केवल सिद्ध भगवान् है। आहारक तो पेट में भी नहीं बनता है।

कोई आत्मा अभी शरीर-रहित है किन्तु आगे शरीर धारण कर लेगा, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। ऐसा मानने पर मुक्ति का अभाव हो जायगा। मुक्ति का अर्थ ही सूक्ष्म शरीर का त्याग करना है। जिसका सूक्ष्म शरीर नष्ट हो गया है, वह कभी स्थूल शरीर ग्रहण नहीं कर सकता। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर से ही उत्पन्न होता है। सूक्ष्म कार्मण शरीर से स्थूल दारिकादि शरीर बनते है। भाव--शक्ति होने पर ही द्रव्य काम आता है। भाव-शक्ति के अभाव में द्रव्य काम नही करता। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर रूप शक्ति से ही स्थूल शरीर बनता है।

सा न्य रूपसे शरीर के पांच भेद है--(१) ौदारिक (२) वै (३) आहारक (४) तैजस और (५) कार्मण।

उदार का अर्थ स्थूल भी है, प्रधान भी है और जल्दी नाश होने वाला भी है। मनुष्य-शरीर (औदारिक) प्रधान इस-लिए माना जा है कि तीर्थंकर अथवा अन्य मोक्ष जाने वाले सभी औदारिक शरीर मे प्रकट होकर ही मोक्ष जाते हैं। मोक्ष धर्म की साधना इसी शरीर से हो सकती है, दूसरे शरीर से नहीं। यह

औदारिक शरीर सात धातुओं से बना आ और स्थूल--देखने मे आने योग्य है।

दूसरा शरीर वैक्रिय है। दिव्य धातुओं से बना शरीर वैक्रिय कहलाता है। मनुष्य का शरीर मिट्टी का बना है और वैक्रिय शरीर दिव्य धातु से बना ^ । वैक्रिय शरीर विविध क्रियाओं मे यु होता है। औदारिक शरीर वाला मुख से ही खा सकता है, परन्तु वैक्रिय शरीर वाला ब तरफ से । सकता है। औदारिक शरीर वाला, दरवाजे से ही घरके बाहर निकल सकता है, वैक्रिय शरीर वाला दीवार में से छिद्र के विना ही निकल सकता है। वैक्रिय शरीर वाला सिर से भी चल सकता है। इस प्रकार वै य शरीर वाला विविध क्रियाओं से युक्त होता है। यह सब होने पर भी वैक्रिय शरीर की महत्ता ज्यादा नहीं है। वह अमर्यादित शरीर है। मुँह से खाते- ते कान से भी खाने लगे, क्या पता ! वैक्रिय और औदारिक शरीरों में ऐसा ही अन्तर है, जैसे राजा और नट में होता है। राजा मर्यादित है, नट अविश्वस्त है। औदारिक शरीर वाला कर्मनाश करके दिव्य ज्ञान पा सकता है परन्तु वैक्रिय शरीर वाला नहीं पा सकता। वैक्रिय शरीरधारी ने त्रिलोकीनाथ का पद नहीं पाया, औदारिक शरीरी ने ही यह पद पाया है।

हारक शरीर विशिष्ट मुनियों को ही प्राप्त होता है किन्तु वह स्थायी नहीं रहता। चौदह पूर्वों के ज्ञाता मुनि को जब तत्त्वों के विषय में कोई जिज्ञासा होती है और केवली भगवान् पास में नहीं होते, तब मुनि अपनी लब्धी से एक प्रकाशमान पुद्गलपुंज बनाते हैं, वह आहारक शरीर कहलाता है।

तजस और कार्मण शरीर अनादि कालीन हैं और सभी संसारी जीवों को होते हैं। खाये हुए आहार को पचाने और शरीर में ओज उत्पन्न करने का गुण तैजस शरीर में ही है। कर्मों का खजाना कार्मण शरीर कहलाता है। यही शरीर जन्म जन्मान्तर कारण है। इसी के द्वारा शुभाशुभ फल की प्राप्ति होती है। तैजस और कर्मण शरीर के साथ ही जीव गर्भ में ता है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी ने जो प्रश्न किया ह, उसका आशय यह है कि—भगवन्! माता-पिता के दिये हुए अंगों से बने शरीर का सम्बन्ध अखण्ड रहता है या कभी टूटता है? उसके उत्तर मे भगवान् ने फर्माया—हे गौतम! जब तक यह भवधारणीय शरीर है, अर्थात् वर्तमान जन्म मे शरीर जब तक रहता है तब माता-पिता का ही यह शरीर झना चाहिए।

आत्मा को समझ लेना चाहिए कि जब तक यह जीवन है--शरीर है, तब तक यह ता–पिता का ही है। अगर तुममें

अभिमान नहीं है तो ही नता रह। ज तू पढ़-लि कर भी दूसरे आडम्बर पड़ रहा है और इस नजदीकी सत्य को भूल रहा है।

विज्ञान वेत्ता हैं– ह वर्ष में शरीर पलट जाता है अर्थात् शरीर के परमाणु बदल जाते हैं। यह कथन किसी अपेक्षा ठीक हो, तो भी का यह कथन सत्य ही है कि जब तक भवधारणीय शरीर है तब तक माता-पिता सम्बन्धी ही शरीर है।

शास्त्रकार ने यह बात इस लिए स्पष्ट कर दी है कि कोई मनुष्य हृष्ट पुष्ट हो कर या रह वर्ष के पश्चात् ऐसा न मान ले कि अब माता-पिता सम्बन्धी शरीर नहीं रहा।

ई कह सकता है कि माता-पिता का दिया शरीर दुब था। अब हम त हैं। इ लिए यह शरीर अब मा -पिता का कहाँ र ? ऐसा कहने वाले का विचार भ्रमपूर्ण है। जीव ने गर्भ मे माता-पिता की धातुओं का जो ाहार किया था, यह शरीर उसी आहार की करामात है। इस शरीर के अन्दर वही हार जी है। उसी पर यह सारा ढाँचा खड़ा है। वह न हो तो जीवन भी न होगा। माता-पिता की धातुओं जो ाहार लिया है, वह आहार शरीर में जब तक रहता है, शरीर भी तभी तक रहता

है और तभी तक जीवन भी है वह आहार धीरे-धीरे समाप्त होने लगता है। जब वह समाप्त होने लगता है, तब इधर से आयु भी समाप्त होने लगती है। परिणाम यह होता है कि यह शरीर भी नहीं रहता।

यहाँ नास्तिक कह सकते हैं कि आखिर हमारी ही बात रही। हम कहते हैं—यह शरीर भूतों से बना हुआ है और भूतों के बिखर जाने पर नष्ट हो जाता है। यही बात जैन शास्त्र भी कहते हैं। जैन शा में भी यही बतलाया गया है कि शरीर रज और वीर्य से बना हुआ है, जब रज-वीर्य समाप्त हो जाता है, तब शरीर भी मर जाता है। जैन शा जिसे रज-वीर्य कहता है और हम उसे पंचभूत कहते है। अन्तर सिर्फ नाम का है। तत्त्व तो दोनों जगह समान है। हम कहते हैं—न कोई परलोक से आता है, न कोई परलोक जाता है। अगर परलोक से कोई आता होता तो वह स्वतंत्र होता, लेकिन जैन शास्त्रों के कथन से भी वह स्वतंत्र तो रहा नहीं, किन्तु रज और वीर्य के अधीन रहा। इस प्रकार जैन श भी प्रकारान्तर से हमारी ही बात का समर्थन करते हैं।

इसके उत्तर मे यह पूछा जा सकता है कि जो माता-पिता की धा ओं का आहार लेता है, वह आहार लेने वाला है कौन? उस आहार लेने वाले को क्यों भूले जा रहे हो?

झाड़, पृथ्वी और पानी का संयोग लेता है, तो क्या पृथ्वी और पानी का संयोग ही झाड़ है ? अगर झाड़ ही नहीं होगा तो पृथ्वी और पानी के संयोग को ग्रहण कौन करेगा ? इसी प्रकार जब स्वतंत्र आत्मा है तभी तो वह माता-पिता की धातुओं से आहार लेता है। अगर आत्मा न होता तो आहार कौन लेता ? उसने शरीर बाँधा है, इसी से भूतों की भी सहायता ली है और जब शरीर की सहायता का त्याग करता है तो भूतों की सहायता का भी त्याग कर देता है। मगर यह सब कुछ करने वाला है आत्मा ही। आत्मा के भाव में इतना सब कौन करता ?

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि माता-पिता के शरीर से लिया हुआ आहार जब तक रहता है, तब तक जीवन भी रहता है, तो फिर लोग अकाल मृत्यु से क्यों मरते हैं ? जितने दिनों के ए ाहार शरीर में है, उतने दिनों तक जीवन रहना ही चाहिए बीच में मृत्यु कैसे हो सकती है ? माता-पिता की धातुओं का लिया आ आहार बीच में क्यों मास हो जाता है ?

इस प्रकार की आ का के कारण बहुतो ने यह मान लिया है कि जीना-मरना किसी के हाथ में नहीं है। जितनी आयु है, उतने ही दिन जीव जीयेगा। इसलिये किसी जीव को मौत से बचाने क्या लाभ है ? चाहे कोई रोगी रहे या निरोग रहे,

संयत आहार-विहार करे या असंयत आहार-विहार करे, जीयेगा उतना ही, जितना आयुष्य है।

ऐसा समझने वाले लोगों की बुद्धि की सावधानी नष्ट हो गई है। अगर किसी भी जीव की मृत्यु अकाल में नहीं हो सकती तो तलवार से टुकड़े-टुकड़े कर देने पर भी किसी की मृत्यु नहीं होनी चाहिए फिर तो यह भी न मानना होगा कि किसी के आघात से कोई जीव मर जाता है। यदि बचाने से कोई जीव बच नहीं सकता तो मारने से मरना भी नहीं चाहिए। ऐसी अवस्था में हिंसा हो ही नहीं सकती। कल्पना कीजिए, एक आदमी ने तलवार रा दूसरे को मार डाला। जब मारने वाले पर अभियोग चला तो अपनी सफाई में वह कहता है— 'मरने ले की आ जितनी थी, वह उतना जीवित रहा। समाप्त हे पर वह मर गया।' तो क्या सरकार उसे ड देगी? कदाचित् कहने लगे कि राज्य का कानून पूर्ण है, इस लिए वह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, तो शास्त्रीय नीति तो पूर्ण है। उस मे हिंसा को पाप क्यों कहा है? और सम संसार के शा इस विषय में एकमत क्यो हैं? अगर में किसी की मृत्यु नहीं होती तो फिर शरीर-विषयक साव नी रखने की और दवा लेने की क्या आवश्यकता है? फिर तो धर्मशास्त्र के साथ चिकित्सा भी निराधार ठहरता है।

कहता है कि आयुष्य, दीपक के तेल के समान है। दीपक में रात भर के लिए जो ते भरा आ है, में अगर एक ी कर जलाओगे तो रात भर प्रकाश देगा, लेकिन अगर उस मे चार बत्तियाँ डाल दो तो भी क्या वह रात भर प्रका देगा ?

'नहीं !'।

इसी प्रकार आयुकर्म के पुद्गल खूटते (मात) होते हैं, परन्तु यदि सावधानी से काम लो तो आ और माता-पिता सम्बन्धी ाहार पूरे मय तक काम देंगे, अन्यथा बीच में ही खूट जाएँगे।

यह में पनी तर से नहीं कहता। । में कहा है–

अज्झवसाणनिमित्ते आहारे वेयणा–पराधाए।
फासे णापाणू, सत्तविहं छिज्जए आऊ॥

अर्थात्– का क्षय त प्रकार से होता है–(१) भयंकर वस्तु का विचार आने से (२) आदि निमित्त से (३) विषैले पदार्थों के आहार से या ार दीर्घकालीन निरोध से (४) रीरिक वेदना से (५) गड़हे में गिरने आदि से (६) सर्प आदि के स्पर्श-दंश-से और (७) श्वासोच्छ्वास की रुकावट से।

ठाणांगसूत्र के टीकाकार स्वयं एक प्रश्न उठाते हैं कि आयु का कम हो जाना या अधिक समय तक चलना, यह तो अनियमितता और अनहोनी बात होगी ? इसका समाधान भी स्वयं वही करते हैं कि यह कोई अनहोनी बात नहीं है। आयु दो प्रकार से छूटता है—एक तो कायदे से, दूसरे वेकायदे। उदाहरणार्थ—सो हाथ लम्बी रस्सी को अगर एक सिरे से जलाया जाय तो वह बहुत देर में जलेगी, अगर उसे समेट कर जलाया जाय तो वह बहुत जल्दी जल जायगी। यही बात आयुकर्म की भी है।

आयु जल्दी और देर में किस प्रकार समाप्त होता है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध किया जा सकता है। भारतियों और अमेरिकनों के औसत आयु मे भेद क्यो है ? सुना है, अमेरिका-निवासियो की औसत आयु साठ-सत्तर वर्ष के लगभग है, और भारतियो की चौवीस वर्ष के लगभग ही। इस प्रकार भारतीय अल्प अवस्था मे ही क्यो मर जाते हैं ? इस का कारण यही है कि भारतियो का रहन-सहन अनियमित और भोजन-पान जीवन वर्धक नहीं है, जब कि अमेरिकनों का ऐसा है। आप अपना जीवन किस प्रकार बिता रहे है, यह आप नही जानते।

अभिप्राय यह है कि आयु रस्सी, तेल या कपड़े के समान है। उस का उपयोग सावधानी से करोगे तो अधिक दिन

टिकेगी, नहीं तो बीच में ही नष्ट हो जायगी । सावधानी से उपयोग करते हुए भी किसी अन्य कारण से अगर बीच ही में मृत्यु आ जावे तो उससे भय मत करो । मरने से डरना बुद्धिमानी नहीं है और मरने से न डर कर सावधानी न रखना भी बुद्धिमानी नहीं है । असल में जीवन-मरण के विषय में मध्यस्थ-भाव रखने से ही शान्ति मिलती है ।

प्रारम्भ की चीज़ का संस्कार अन्त तक रहता है, यह किसे नहीं मालूम है ? आम की गुठली से झाड़ पैदा होता है, जिस में मोटा जा और बड़ी-बड़ी डालियां होती हैं। लेकिन उस बड़े झाड़ में भी अंकुर और बीज का धर्म रहता ही है । वह तभी जाता है, जब झाड़ समूल नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार माता-पिता की धातुओं का जो आहार गर्भ मे लिया है, वह उम्र भर रहता है । उस आहार का संस्कार छूटा और प्राण गया ।

आप के माँ-बाप मनुष्य थे, इसी से आप भी मनुष्य हुए हैं । यदि वह जानवर होते तो आप भी जानवर होते । यानी आप को मनुष्यत्व देने वाले आप के माँ-बाप है । उन्हो ने आप को मनुष्य बनाया है और उनकी दी हुई मनुष्यता-जीवन के अन्त तक कायम रहेगी । आप बीच मे पशु मत बनो-पशुओं का-सा व्यवहार मत करो ।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! जीव जब माता

के गर्भ में होता है, तब उसे मल, मूत्र, कफ, नाक का मैल (सेड़ा), वमन (कै) और पित्ता होता है या नहीं होता ? इस का उत्तर भगवान् देते हैं—हे गौतम ! ऐसी बात नहीं है। अर्थात् गर्भस्थ जीव के मल-मूत्र आदि नहीं होते। गौतम स्वामी इसका कारण पूछते हैं–भगवन् ! इसका क्या कारण है ? हम लोग तो आहार करते हैं, उससे मल-मूत्र आदि भी बनते हैं, तो गर्भ में रहे हुए जीव के आहार से भी मल-मूत्र बनने चाहिए। मगर आप उन का निषेध करते हैं, सो इस का क्या कारण है ?

भगवान् ! उत्तर देते है–गौतम ! गर्भस्थ जीव जो आहार खाता है, वह सब की इन्द्रियं आदि बनने के काम आता है। मारे आहार से उसके शरीर के विभिन्न भाग बनते हैं। इस लिए मल-मूत्र नहीं बनते।

गर्भस्थ जीव माता के रस का आहार करता है। रसभाग वही कहलाता है, जि ल भाग अलग हो गया हो। माता जो आहार करती है, वह दो रूपों मे पलटता है– ल भाग मे और रस भाग में। गर्भ का जीव रसभाग का ही आहार करता है, अतः उसके मल मूत्र आदि हो ही नही ।

इसके अनन्तर गौतम मी पूछते हैं–भगवन्, हम ग जैसे कवलाहार करते हैं अर्थात् के रूपमें स्व भो

करते हैं, क्या उसी प्रकार ग थ जीव भी हार करता है ? भगवान उत्तर देते हैं--गौतम, यह नहीं है । गर्भ में रहा आ जीव मुख द्वारा ाहार--कवलाहार नहीं कर सकता । तब गौतम स्वामी पूछते हैं--प्रभो ! इसका कारण । है ? ग जीव कवलाहार क्यों नहीं करता ? भगवान् उत्तर देते हैं--हे गौ म ! गर्भ का जीव सारे शरीर आहार है, इस लिए वह कवलाहार नहीं कर सकता । वह जीव सम्पूर्ण शरीर से हार करता है, सम्पूर्ण शरीर से परिणमाता है, सम्पूर्ण शरीर उच्छ्वास लेता है, सम्पू रीर से निःश्वास लेता है । इसी वह र- र हार आदि ले है र कदाचित् लेता है, कदाचित् नहीं भी लेता ।

गर्भ का जीव सारे रीर किस प्रकार आहार है, उसका किरण यह कि है कि एक मातृ जीव-रसहरणी नाली ी है । रसहरणी का थ है, भि का नाल इस नाल द्वारा मा के जीव का रस ग्रहण कि जाता है । इस नाल का संबंध माता के शरीर के साथ होता है । इससे पुत्र को रस प्राप्त होता है । इसके सिवाय एक नाड़ी (न) और भी है जो पुत्र जीव के थ सम्बद्ध है और माता के जीव के साथ अटकी हुई है इस नाल- रा पुत्र का जीव आहार का चय और उपचय कर है । इसी कारण उसके कवलाहार नहीं हो ।

क णं ते! गा त्ता?

उत्तर- य ! अंग प त्ता।
तंज - , ए, त्थुलुंगे।

श्न णं भंते! पि अंग प ।

उ र— ोयमा! तओ पिइ गा प ।
- ि, अट्ठिं जा, स- -रो -नहे।

श —अम्मा इए णं भंते! सरिरए
यं ालं संचिट्ठइ ?

र ोय ा! जवाइयं से ालं भव-
धारणिज्जे सरीरए व्वाव भवइ एवतियं ालं
संचिट्ठइ। अहे णं समए-स ए वोयसिज्जमाणे,

चर ्छिन्ने

-छाया

प्रश्न— ति भगवन् ! त्रंगानि प्रज्ञप्तानि ?

उत्तर गौ ! त्रीं त्रंगानि ानि । तद्यथा-मांसम्, शोणितम् मस्तुलुङ्गम् ।

प्रश्न—कति भगवन् ! पित्रङ्गानि प्रज्ञप्तानि ?

उत्तर—गौतम ! गौतम ! त्रीणि पित्रङ्गानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा-अस्थि, अस्थिमज्जा, शा-श्मश्रु-रोम-नखः ।

प्रश्न—अम्बापैतृकं भगवन् ! शरीरं कियन्तं लं संतिष्ठते ?

उत्तर—गौतम ! यावन्तं कालं तस्य भवधारणीयं शरीरम् अव्यापन्नं भवति एतावन्तं लं संतिष्ठते । अथ समये समये व्य - माणा--व्यवक्रुष्टामाणं चरम लसमये व्युच्छिन्नं भवति ।

मू ा ं-

—भगवन् ! मा ि त ?

उत्तर— ौत ! ा ी हैं । इस

ार- ा ,र ार स्त भे ।

श्न—भगवन् ! पिता के कितने हैं ?

र— तम ! पिता के तीन हे हैं । वे इ

ार-हड्डी, ज । र श-दाढ़ी-रो तथा . ।

प्रश्न— वन् ! । । र पिता के तान

के रीर ि त । त रहते हैं ?

उ र— तम ! तान । भवधार ीय शरीर

जितने य रहता है उत त वह ग रहे

। र व भवधारणीय शरीर मय- मय हीन हो ।

ाता है र त ता , तब ाता-पिता

भी नष्ट हो ाते हैं ।

व्याख्या —

गौ मी प्रश्न करते हैं, भगवन् ! सन्तान के रीर में के कितने ग हैं ?

उत्तर—गौतम सन्तान के रीर में तीन माता के हैं—यथा म , र र मस्तक का भेजा ये तीन माता के शोणित से हुए हैं ।

—गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं, भगवन् ! जिस प्रकार के तीन अंग हैं उसी प्रकार पिता के कितने अंग है ।

भगवान् उ र फरमाते हैं–गौतम, पिता के भी तीन अंग हैं–हाड़ हाड़ की मिंझी और केश रोम–नख आदि—

शेष अंग सब माता एवं पिता दोनो के पुद्गलों से बने ए हैं। इसलिये–श कार कहते हैं कि माता पिता के उपकार से कभी ऊरण नही हो सकता यह शरीर उन्हीं माता पिता की देन है अतः मनुष्य को मात पिना का उपकार मानते हुए उनकी सेवा भ करके उनका शुभाशिर्वाद प्राप्त करना ही हिता वह है। जो मनुष्य मातपिता की सेवा न करते ए उन्हे दुख कष्ट देते हैं और उनके हृदय को चोट पहुंचाते है वे अपनी उन्नति नही कर सकते किन्तु जो सन्तान मातपिता की सेवा भ करते हैं उनके चित्त को शान्ति पहुंचाते हैं, वे फलते-फूलते व अपना विकास करके संसार मे यश प्राप्त करते हैं। वे धर्म भी सुगमता से कर उसके आराधक बन सकते हैं क्योंकि मनुष्य की जड़ मातपिता का हृदय है, वह जब तक हरा भरा बना रहता मनुष्य फलता-फूल है, किन्तु जब मातपिता का हृदय दग्ध कर दिया जाता है तो मनुष्य भी सूख जावेगा। मनुष्य शरीर में मातपिता के अङ्गों का सम्बन्ध जिन्दगी तक रहता है इस विषय में गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि—

भगवन् मातपिता के अङ्ग सन्तान के शरीर मे कितने काल रहते हैं।

उत्तर—गौतम! सन्तान का शरीर जब तक कायम रहता है, यहां तक मातपिता के वे अङ्ग कायम रहते है समय २ वे पुद्गल छिजते ए मातपिता का वह ओज समाप्त हो जाता है तभी मनुष्य भी नहीं रहता, मर जाता है, अतः सन्तान को मातपिता के प्रति सदा वफादार रहना चाहिए।



पाठ

प्रश्न जीवे णं भं ! गब्भग स णे नेरइए उववज्जेज्जा ?

उत्तर ोय ! अत्थेग ए उववज्ज , त्थेगइए नो उववज्जेज्ज ।

श्न से णट्ठेणं ?

उत्तर गो मा ! से णं स ी चिंदिए सव्वा िं पज्ज ीिं प त्तए, वीरिय द्धीए, वेउव्वियलद्धीए र णीएणं आ यं ो निसम्म निच्छुभइ, नि भित्ता वे ि यस घाणं स णइ, मो णि । उरंगिणिं व्व , चाउरंगिणिं विउवि । चा रंगि-

णीए णाए पराणीएणं सद्धिं संगामं संगामेइ । से णं जीवे अत्थकामए, रज्जका ए, भोग ामए, ा ा ए, अत्थ ि ए, रज्जकंखिए, भोगकं- ि ए, का ि ए, अत्थपिवासए, रज्जपिवा- सए, भो पिवासए, ा पिवासए चित्ते, णे, लेसे, तदज्झवासिए, त ज्झवसाणे, तदट्ठो उत्ते, तदप्पियकरणे, तब्भावणभावि , एयं- ि णं तरंसि कालं रेज्ज ने एसु उ वज्जइ । से णट्ठेणं ेय ।। जाव अत्थेगईए उव ज्जेज्जा, त्थे ए नो उववज्जेज्जा ।

१ — जीवेणं भंते ! ब्भगए समाणे देव ोगे उव ज्जेज्जा ?

उत्तर ेय । ? अत्थेग ए अव ज्जा, अत्थेग ए नो उवज्जेज ा ।

प्रश्न— णट्ठेणं ?

ई गोय । ! से णं ी पंचिदिए सव्वाहिं ज चीहिं पज्जत्तए त ।रूवस्स - णस्स वा ।हण व अंति एग वि । रियं धम्मियं ुवयणं च्चा, नि त्रो भव संवेग जाय ड्ढे, तिव्वधम्म णुरागर , णं जीवे धम्म मए, पुन्न मए, स ग मए, - । , धम्म कं ए, पु कं ए, ग ए, क , धम्म पिवा ए, पु पिवा ए, ग- पिव सए, व ।वासए, ताचित्ते, तम णे, तदज्झवसिए, त्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पिय रणे, तभ णाभाविए एयंसि णं अंतरंसि । रेज्ज देव ोगेसु उववज्जइ । से तेणट्ठेणं गोयमा !

ई -छाया

प्रश्न—जीवो भगवन् ! गर्भगतः सन् नैरयिकेषु उपपद्येत ?

उत्तर—गौतम ! अस्त्येके उपपद्येत, अस्त्येकको नोपपद्येत ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! स संज्ञी पञ्चेन्द्रियः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तिको वीर्यलब्ध्या, वैक्रियलब्ध्या, पराऽनीकम् आगतं श्रुत्वा, निशम्य प्रदेशान् निक्षिपति, निक्षिप्य वैक्रियसमुद्घातं समवहन्ति, समवहन्य चतुरङ्गिणीं सेनां विकुर्वति, चतुरङ्गिणीं सेनां विकुर्व्य चतुरङ्गिण्या सेनया पराऽनीकं सार्धं संग्रामं संग्रापयते। सजीवोऽर्थकामुकः, राज्यकामुकः, भोगकामुकः, कामकामुकः, अर्थकांक्षी, राज्यकांक्षी, भोगकांक्षी, कामकांक्षी अर्थपिपासकः, राज्यपिपासकः, भोगपिपासकः, कामपिपासकः, तच्चित्तः, तन्मनाः, तल्लेश्य, तदध्यवसितः, तत्तीव्राध्यवसानः, तदर्थोपयुक्तः, तदर्पितकरणः, तद्भावनाभावितः, एतस्मिन् अन्तरे कालं कुर्यात्, नैरयिकेषु उपपद्यते। तत् तेनार्थेन गौतम ! यावत्-अस्त्येककः उपपद्यत, अस्त्येकको नोपपद्यते।

प्रश्न—जीवो भगवन् ! गर्भगतः सन् देवलोकेषु उपपद्येत ?

उत्तर—गौतम अस्त्येकेक उपपद्यते, अस्त्येकको नोपपद्यते।

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! स संज्ञी पञ्चेन्द्रियः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तकः तथा-रूपस्य श्रमणस्य वा माहनस्य वा अन्तिके एकमपि आर्य-

धार्मिकं वचनं श्रुत्वा निशम्य, ततो भवति संवेगजातश्रद्धः तीव्रधर्मा-रागरक्तः, स जीवो धर्मकामुकः, पुण्यकामुकः, स्वर्गकामुकः, मोक्ष-कामुकः, धर्मकाङ्क्षी, पुण्यकांक्षी, स्वर्गकांक्षी, मोक्षकांक्षी, धर्मपिपा-सकः, पुण्यपिपासकः, स्वर्ग-मोक्षपिपासकः, तच्चित्तः, तन्मताः, तल्ले-श्याः, तदध्यवसितः, तत्तीव्राध्यवसानः, तदर्थोपयुक्तः, तदर्पितकरणः, तद्भावनाभावितः एतस्मिन् ग्न्तरे कालं कुर्यात्, देवलोकेषु उपपद्यते। तत् तेनार्थेन गौ !

—भगवन्! मे मे या जीव ि र ।र-कियों उत ो । ?

उत्तर—ो ! ो त्प , ो उत्प । ।

भगवन्! । । ग ?

र ो ! वह ज्ञी पंचेन्द्रिय ।र पर्या-ियों पर्या ीव वीर्यलब्धि द्वारा, वै य ि रा, शत्रु की र, वधारण र, ात्म दे ो भ । र भ फै ता है, वै

दूघात ` मवहत हो, च रंगी `ना की विक्रिया रता है, चतुरं ी `ना ी विक्रिया रके उ `ना से शत्रु की ` ा ` ाथ युद्ध रता है। ौर वह र्थ ा का ी, राज्य ा ामी, भोग ा ामी, काम का ामी, अर्थ ˜ ˙पट, राज्य ˜ ˙पट, भो में लंपट तथा ा ˜ ˙पट, र्थ ा प्या ा, राज्य ा प्या ा, भो ा प्यासा ौर ाम ा प्या ा, ीव, उन्हीं ˜ चित्त वा ा, उन्हीं ˜ न वा ा, उन्हीं ˜ ात्मपरिणा वा ा, न्हीं ˜ अध्यवसित, उन्हीं ˜ य वा ा, उन्हीं ˜ ाविधान ा वा ा, उन्हीं ` ि ए ि ा ों ा भोग दे` वा ा ौर न्हीं ` ˙स ार वा ा, ी य मृत्यु ो ा हो तो र ˜ उर ोता है। इ ि ए हे गौत ! यावत्- ोई जीव र ˜ ाता ˜ ौर ोइ नहीं ा ा।

प्रश -भ वन! र्भ ˜ र ा जी देव ो ˜ जाता है?

उत्तर-हे ौ ! `ई ी ाता है, ो ि नहीं ा ˜ ।

प्रश्न-भगवन्! इ ा क्या ारण है?

उत्तर- ` ˜ म! ˙ज्ञी पंचेन्ि य ौर ाब पर्याप्तिओं

से पूर्ण िव तथा रूप श्र यो हन पा ए भी धार्मि ार ार्य वचन न र, वधारण र, रन ही संवे में श्रद्धा कर, ध ती रा र हो र, वह धर्म का ा ी, य ा ा ी, स्व ा ी, मोक्ष ामी, ध ा , पुण्य ा , स्व में आस , मोक्ष ा , धर्म प्या , पुण्य ासा, स्व ोक्ष ा ा ा, उसी चित्त वाला, ी मन वा ा, उ ी ार रिणा वा ा, उसी ध्यवसा , उसी ी य व , वधा तावा ा, उ ी ि ए ि या ों ा भो देने ा और उ ी संस ार वा , ऐसे य मृत्यु ा हो तो देवलो ा है। ि ए ीत ! ोई जीव देव ो में ा है, ोई नहीं ज ा।

व्याख्या —

गर्भस्थ लक का शरीर माता-पिता के शरीर से ही बनता है, यह बात नास्तिक अपने पक्ष के समर्थन में घटाने की चेष्टा करते हैं। इस लिए गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—भगवन्! गर्भ में रहा हुआ जीव मर कर क्या नरक में जाता है ?

अपने दे ने में और नाि कों की सम में तो गर्भ का
व क माँ- प के विकार के मिवा और कुछ नहीं है। ज्ञानी
भी यही कहते हैं कि गर्भ का बालक माँ-बाप का विकार-रूप ही
है, परन्तु यह त सिर्फ शरीर के सम्बन्ध में ही समझनी
चाहिए। गर्भस्थ बालक का त्मा तो तंत्र ही है, वह पूर्वभव
` आया है ` र उत्तर भव करेगा।

` स्वामी ने जो प्रश्न किया है, उस का शय यह है
कि गर्भ का जीव अज्ञान- । में पड़ा आ है और गर्भ के
कारागार में बंद है। विना पाप किये कोई जीव नरक में नही
जाता। फिर नरक का जीव नरक में कैसे सकता है, क्योंकि
वह `ई पाप नहीं करता।

गौतम ी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् माते है—
गौ ! सब जीव ान नहीं है। `ई जीव ` में ही मर कर नरक
में है और कोई जीव नरक मे नहीं भी जाता। रही अज्ञान
और सज्ञान अवस्था की त, सो राजकीय कानून में भी यह
प्रश्न उ है मगर राजकीय कानून अपूर्ण है। ` प्रमाण भूत
मानकर तत्त्व का निर्णय नहीं किया जा ।। मे न
और सज्ञान अवस्थाएँ उम्र पर निर्भर नही हैं। कई ` जवानी
मे भी बालक से ज्यादा है ` हैं और कई जीव ल्या-
वस्था मे ही ज्ञानियों को भी ,देते हैं।

छोटी उम्र वाले को अ न और बड़ी उम्र वाले को सज्ञान मानना सार का कायदा है, परन्तु प्र ति का कायदा अलग है। अतिमुक्त नि, जब छह वर्ष के बा क थे, तब भी उन्होंने अपनी माता से जो-जो बातें कहीं, उनका उत्तर वह नहीं दे सकी।

पुराण में देखो तो पुराण के अनुसार ध्रुव छह वर्ष के ही थे, और नारद की अवस्था कितनी थी सो छ पता नहीं फिर भी ध्रुव ने रद की बातों का जो उत्तर दिया, उसे सुन कर नारद दंग रह गये। व बहुत छोटे थे, छह वर्ष के ही थे, नाबा थे। इ अवस्था में उन्हें अ न कहा जाय या स न कहा जाय? एक जगह लिखा है कि कराचार्य जब छह वर्ष के थे, तभी शुद्ध संस्कृत भाषा बोलते थे। ऐसी हालत में दरत के कायदे को क्या कहा जाय? किस अवस्था वाले को सज्ञान कहें और ि अवस्था वाले को अज्ञान कहें? इसी लिए नी पुरुष कहते हैं कि नरक में सज्ञान जीव ही जाता है, मगर स -अज्ञान की टी उम्र से नहीं बनाई जा सकती।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—हे गौतम! गर्भ में र आ कोई जीव नरक में जाता है और कोई नहीं जाता।

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—भगवन्! ऐसा क्यों है?

भनवान् फर्माते हैं—गौतम ! यह बात साधारण जीव के लिए मत समझो किन्तु ओजस्वी क्षत्रीय वंशी राजवीर्य के लिए ऐसा कहा गया है। ऐसे जीव के विना यह तेज नहीं आ सकता। गर्भ मे किसी राजा का संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्त जीव हो, तो वह गर्भ मे ही मरकर नरक में जा सकता है। जिसे वीर्य की र्थात् पराक्रम की लब्धि प्राप्त हुई हो, वह गर्भ में भी पराक्रम कर सकता है। राजा के उस जीव को यदि वीर्य की लब्धि और वैक्रिय लब्धि प्राप्त हो तो वह गर्भ से ही नरक मे जा सकता है ?

कहता है—वीर्य की लब्धि प्राप्त हो और वैक्रिय ब्धि प्राप्त न हो, या वैक्रिय लब्धि प्राप्त हो मगर वीर्य लब्धि प्राप्त न हो तो काम नहीं चल सकता। इन दोनो के होने पर ही काम चल सकता है।

गर्भ का जीव माता के सुख से सुखी और माता के दुःख से दु रहता है। माता के हर्ष और शोक का प्रभाव, गर्भ के लक पर अवश्य पड़ता है। इसी कारण गर्भ की रक्षा करने वाली म तीव्र हर्ष-शोक आदि नही करती। गर्भ चिकित्सा में लि है कि गर्भवती माता अगर भयभीत होती है तो उस भय र गर्भ पर भी पड़ता है।

मान लिए, राजवीर्य का, वैक्रिय लब्धि और वीर्य लब्धि

से मुक्त बालक गर्भ में है और उसका पिता मर गया है। इतने में माता पर एक मुसी आ पड़ी। कोई दूसरा राजा अपनी सेना लेकर चढ़ आया। पिता मर गया है, आप गर्भ में हैं और माता चिन्ता में पड़ी है कि मेरा राज्य जा रहा है। इस गर्भस्थ बालक के पिता के प्रताप से तो सब लोग कांपते थे, पर उनके न रहने स मेरे राज्य के चले जाने का मौका आ गया ! माता की चिन्ता का प्रभाव गर्भ के बालक पर भी पड़ता है और माता के मनोगत विचारों के अनुसार गर्भस्थ बालक के भी विचार होते हैं। वह बालक भी विचारने लगता है—'अहो यह शत्रु राजा मेरे पिता का राज्य लेने आया है !' यह सोचकर उसका अहंकार उग्र बनता है। फिर वैक्रिय लब्धि रा वह आत्मप्रदेशों को गर्भ से बाहर निकाल वैक्रिय समुद्घात करता है। वै य समुद्घात करके वह गर्भ का बालक हाथी, घोड़े, रथ और प्यादेकी चतुरंगिनी सेना तैयार करता है और आई ई शत्रुकी सेनासे लड़ाई करता ह। वह गर्भ का बालक, यह सभी छ धन-कामना से, राज्य-कामना से, भोग-कामना से, और काम-कामना से, करता है। उसे इनकी कांक्षा आर पिपासा है। उसका अनुगत चित्त भी ऐसा ही बना । उसका मन भी ऐसा ही और वृत्ति भी ऐसी ही है। उसका अध्यवसाय भी ऐसा ही बना हुआ है और उसी अर्थ मे अर्पित हो गया है। अतएव उसकी भावना यही रहती है कि सामने वा मार डालूँ और राज्य बचालूँ।

इ प्रकार वह गर्भ का जीव ड़ता–लड़ता जब अपनी वैक्रिय लब्धि को समेटने जाता है, तब छोटी शा होने से उससे समेटा नहीं जाता और इस समेटने मे वह मर भी जाता है। इ अवस्था में मरने से वह नरक में चला जाता है।

न् की कही हुई यह बात प्रत्यक्षगम्य नहीं है। हम इंद्रियसे यह बात नहीं देख सकते। इसलिए इस बात पर विश्वास कराने के लिए इतिहास का एक प्रमाण दिया जाता है।

यहाँ यह कहा जा हैं कि .ई क्या नरक का क है? इस का उत्तर यह है कि की लड़ाई है तो अनादि से, मगर हिं , की लड़ाई ग है और अहि , सत्य की लड़ाई है। यह नहीं कहता कि शास्त्रों की ेक लड़ाई नरक है। की लड़ाई में भी अपराधी-निरपराधी भेद है। .इ कौरवों ने भी की थी और पाण्डवों ने भी की थी। सेना और आदि दोनों तर थे, परन्तु । कहता है—पाण्डवों पक्ष स और सात्विकता का था और कौरवों पक्ष एवं राजस था। मतलब यह है कि की ेक .ई से नरक ही हे । है, यह नहीं कही जा कती।

इस पर यह शं उठाई कती है कि

शस्त्र की क लड़ाई नरक का कारण नहीं फिर बैरी चढ़ कर आया था और उससे वह गर्भ का क लड़ा उसे नरक क्यों जाना पड़ा ? शास्त्र इ का उत्तर यह देता है कि किसी का पक्ष भ ही सत्य हो, लेकिन अत्यन्त तीव्र ल सा के कारण वह स पक्ष भी पक्ष जा है। नरक कारण अत्यन्त आस है। अत्यन्त सक्ति न होने पर, सिर्फ की लड़ाई के कारण नरक में जाना ही पड़े, ऐसा कोई नियम नहीं है।

चेड़ा और कोणिक—दोनों ने संग्राम किया था। णिक ने भी मनुष्यों को मारा था और चेडा ने भी। र भी चेड़ा बारहवें देव ोक में और कोणिक नरक में गया। इस गति भेद का क्या कारण है ? इस भेद का कारण यही है कि चेड़ा लड़ाई की हिंसा हिं ही जानता—मान था, परन्तु थ ही यह भी ोचता था कि सार-कर्त्तव्य निभाना पड़ रहा है। जो इस हिंसा से मुक्त हो जाता है वही धन्य है ! इस प्रकार की शुभ भावना से वह स्वर्ग में गया। आशय यह है कि ती धादि ही नरक के कारण हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध के बिना नरक-ग नहीं होती। इसलिए नरक का असली कारण ोध आदि है। रंभ, क्रोध का सहायक है। आरंभ से क्रोध बढ़ता है। परिग्रह, लोभ रूप है ही।

अब यह भी प्रश्न उठता है कि गर्भ के बालक में इतना सब कुछ करने की शक्ति हो सकती है, यह बात मानने में नहीं आती। इसका समाधान यह है कि जिन्होंने यह बात लिखी है, उन ज्ञानियों में क्रोधादिक तो था ही नहीं, जिससे प्रेरित होकर वह असत्य या अतिशयोक्तिपूर्ण लिखते। अतएव महात्मा पुरुषों की बात में संदेह करने का कोई कारण नहीं है। की बात भक्ति से माननी चाहिए। छोटे बालक मे भी विचार-गंभीरता होती है, यह बात इतिहास से भी मालूम हो जाती है।

इतिहास की बात है कि जयशिखर का लड़का बनराज चावड़ा पाटन का राजा था। बनराज बड़ा पराक्रमी था। उसके पराक्रम को देखकर सारा राजपूताना तंग था। उसका पराक्रम देखकर मारवाड़ के लोगों ने विचार किया कि अपने देशमें भी बनराज सरीखा वीर उत्पन्न हो तो देश को बड़ा लाभ होगा। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए मारवाड़ी लोगों ने अपने यहां के भाटों से कहा-किसी भी प्रकार बनराज को अपने यहां ले आओ। यहां किसी कन्या से विवाह कर देंगे और उनकी जो संतान होगी वह बनराज सरीखी वीर होगी।

भाट, जयशिखर के समीप पहुँचे। उन्होंने मुक्त कंठ से जयशिखर की विरुदावली का बखान किया जयशिखर ने प्रसन्न होकर भाटों से इच्छानुसार मांगने के लिए कहा। भाटों ने

जयशि र ने वचन लिया कि वह जो मांगेंगे, वही उन्हें मिले । जयशिखर ने वचन दे दि । तब भाटों ने पा करके मारवाड़ पधारें। थोड़े दिनों के लिए पना राज-पाट कर्मचारियों के सिपुर्द करदें।

जयशिखर बड़े असमंजस में पड़ा। म ोगों ने यह क्या मांगा है ! भाटों ने कहा—आपने मांगने की छुट्टी दी थी सो हमें जो च्छा ल सो मांग लिया। अब प कृपा करके मारवाड़ पधारिये।

आखिर जयशिखर अपना राज्य सरदारों को सौंपकर टों के साथ मारवाड़ की और रवना हुआ। रास्ते में ज र ने पूछा--मैं चल तो रहा ही हूँ, परन्तु यह तो बता ो कि म ोग किस उद्देश्य से मुझे लिये जा रहे हो ?

भाटों ने उत्तर दिया—मारवाड़ में वनराज सरी वीर पुरुष उत्पन्न करना है। इसी उद्देश्य से आपको लिये जा रहे हैं। ज शिखर ने हँस कर कहा-वनराज केले मुझ से नहीं पैदा आ है। वनराज की मां सरीखी मां ही वनराज को जन सकती है। भाटों ने कहा—मारवाड़ में कन्याओं की कमी नहीं है।

जयशिखर ने कहा—कन्याएँ तो होंगी, पर प्रत्येक से वनराज पैदा नहीं हो सकता। वनराज की माँ जैसी ी ही वनराज को

जन्म दे सकती है। मैं ने तुम्हें मुँह-माँगा वरदान दिया है, इस लिए मै तुम्हारे साथ चल ही रहा हूँ। परन्तु पहले यह दे लो कि वनराज की माँ सरी ी कोई कन्या मारवाड़ में है या नहीं ?

भाट बोले—आखिर वनराज की माँ कैसी थी ?

जयशि० ने कहा—वनराज की माता का परिचय देने के लिए सिर्फ एक घटना ही बतलाता हूँ उसी से तुम्हें उसके व्यक्ति त्व का पता चल जायगा। जिस समय वनराज ६ महीने का , उस समय एक बार मैं रानी के महल में गया। उस वनराज लेटा हुआ था। वनराज की माँ से मैं ने छेड़-छाड़ की। तब उस ने कहा--आप को लज्जा नहीं मालूम हो कि मने पर-पुरुष लेटा हुआ है र आप मुझ से छेड़ छाड़ कर रहे हैं। म ने हँस कर कहा--यह ६ मही का शिशु ही पुरुष है ! तब ने उत्तर दिया--इसे ६ महीने का ज क्या प पुरुष ही नहीं समझते !

मैं नहीं माना। मैं ने फिर रानी से ेड़-छ की। वनराज ने अपना मुँह फेर लिया। रानी ने यह दे कर कहा--देखो, म जिसे निरा शिशु समझते थे, ह फेर लिया ! मेरी प्रति । थी कि मैं पर पुरुष के सामने नी इज्जत नहीं जाने दूँगी। लेकिन आप ने पर पुरुष के सा इज्जत लेकर मुझे प्रतिज्ञा भ्रष्ट कर दिया।

खिर इसी पर वनराज की माता जहर पीकर सो गई। उसने फिर मुझे कभी मुँह नहीं बतलाया। तुम्हारे यहाँ कोई ऐसी मा है ?

भाटों को यह त सुनकर श्चर्य आ। उन्हों ने हता हो कर कहा—महाराज, हमारे यहाँ ऐसा कन्यार मिलना कठिन है। अब प प्रसन्नतापूर्वक लौट सकते हैं। निष्कारण कष्ट करने से क्या फायदा है ?

क्या वलवीर की यह वात साधारण आदमी की समझ में आ सकती है ? वीर पुरुषों की यह वात वीर ही समझ सकते हैं। ६ मास के क की यह वात इतिहास की है और सि न्त में गर्भ के वालक की वात लिखी है। गर्भ का बालक लड़ाई करता है र क्रूर अध्यवसाय के कारण मर कर नरक में जाता है। जब आप इतिहास की वात पर विश्वास करते हैं, तब सिद्धान्त की पर क्यों विश्वास नही करते ?

नास्तिक लोगों का कथन है कि माता-पिता के रज-वीर्य से ही लक उत्पन्न हे है और जब रज-वीर्य के संस्कार नष्ट होते हैं तव शरीर भी नष्ट हो जाता है। इतना ही नहीं, के मत के अनुसार शरीर के साथ शरीरवान् (चैतन्यमय आत्मा) भी नष्ट हो जाता है। लेकिन आगम से विदित हो है कि गर्भ का

बालक स्वर्ग या नरक भी प्र कर कता है, तो उस क को केवल मा -पिता का रज-वीर्य ही कै माना जा सकता है ? उस गर्भस्थ बालक में त्मा की अद्भुत ि है। आत्मा के तेज को और उसकी शक्ति को समझना सरल बात नहीं है। उसे न समझने के कारण ही नास्तिकता आती है और भौतिक पदार्थ पर ही सारा विश्वास केन्द्रित होजा है। यह वास्तव में सम की कमजोरी है।

एक ही अा नरक में भी जा कता है र र्ग में जाने की शा रखता है। दोनों प्रकार की शा मूल में एक ही है, उसका उपयोग भिन्न भिन्न तरह से होता है। किसी से आत्मरक्षा भी हो सकती है और आत्मह । भी हो सकती है।

यही दर्शाने के लिए गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! गर्भ में रहता हुआ जीव देव लोक मे भी चला जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—हाँ, गौतम ! चला जाता है। अर्थात् कोई जाता है, कोई नहीं जाता। तब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! ऐसा क्यों है ? भगवन् उत्तर देते हैं-गौतम ! जैसा कारण होता है, वैसा कार्य होता है। जीव में स्वर्ग-नरक-दोनों प्राप्त करने की शक्ति है वह जैसी सामग्री जुटाता है, वैसी ही गति पाता है।

वि सत्व शाली जीव ही गर्भ स्वर्ग या नरक जा सकता है। सतोगुणी प्र ति वाला जीव स्वर्ग जाता है और तमोगुणी प्रकृति वा जीव नरक जाता है। हे ग म! वह किसी महान् राजा का वीर्य सं पंचेन्द्रिय और सब पर्याप्तिओं से पर्याप्त, जब माता के गर्भ में होता है, उस समय उसकी माता तथारूप श्रमण माहन से धर्म का व्याख्यान सुनाती है ी प्रकार गर्भ का क भी उसी प्रकार सुनता है, जैसे लेकर चढ़ाई होने की बात सुन कता है।

यहां यह ध्यान देने योग्य है कि श्रमण और माहन के 'तथारूप' विशेषण क्यों लगाया गया है? 'तथारूप' विशेषण यह बात बतलाता है कि जैसा पुरुष है—जिसकी जिस रूपमें स है, उसमे गुण भी उसी प्रकार के हैं। उदाहरणार्थ माणिक इमीटे भी हे। हैं और सली भी। इमीटेशन माणिक स्वांग तो सली माणिक के समान ही है, किन वह सली नहीं है। उसमें सली माणिक की विशेषता नहीं है। ी प्रकार श्रमण-माहन का स्वांग (वेष) धारण करने वाले त हैं, परन्तु तथारूप के-असली गुणयु श्रमण-माहन नहीं होते। ऐसे किसी ऐरे-गैरे से अभिप्राय नहीं है। यहां --माहन के शास्त्रो गुणों से युक्त श्रमण-माहन का अर्थ लेना चाहिए। इसीलिए 'तथारूप' विशेषण ाया है, । जिसका

त्रु-मित्र पर म व है, जो सतत तप में लीन रहता है, वह श्रमण कहलाता है। किसी से घृणा करने या किसी को संताप देने के ि ए तप करना सुतप नहीं है; किन्तु समभाव के साथ, आत्म द्धि के लिए कि जाने वाला तप ही सुतप है। ऐसा सुतपस्वी ही श्रमण कहलाता है।

ाप कह सकते हैं कि जिसे शत्रु-मित्र पर समभाव हो गया, उसे तप करने की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि समभावी को भी तप करना पड़ता है। समभाव वाले को भी निराहार रहना पड़ता है। थोड़ी देर के लिए कल्पना कीजिए कि रोटी एक है और खाने वाले दो हैं-माँ और बेटा। अगर माँ खाती है तो बेटा भूखा रहता है ौर बेटा ाता है तो माँ भूखी रहती है। ऐसी परिस्थिति मे समभाव वाली माँ ाप भूखी रहकर बच्चे को खिला देगी, क्योंकि बच्चे के और अपने प्रति उसमें समभाव है। जो माता ऐसी नहीं है, बच्चे के प्रति कपट रखती है, वह माता के गौरवपूर्ण पद की धिकारिणी नहीं हो सकती। ऐसी माता की बात निराली है।

जैसे बच्चे के प्रति समभाव रखने वाली माता, आप भू रहती है, उसी प्रकार समभाव रखने महात्मा सार को दुखी देख कर, अनशन करके भी संसार के दुख दूर करने का उपाय करते हैं। खुद की गर्ज के लिए अनशन करना एक बात

है और अछूतों के लिए गांधीजी के मान अनशन करना दूसरी बात है।

जिस में समभाव होगा वह सोचेगा कि भारत में सात करोड़ मनुष्यों को दो वार पेट भर भोजन नहीं मिल ौर हम तीसों दिन, दोनों वार भोजन करते हैं। अगर दोनों समय भोजन करने वाले बीस-पच्चीस करोड़ मनुष्य एक माह में ह दिन भूखे रह जावें तो भूखे रहने वालों को भोजन भी मि जाएगा और हमारे समभाव की रक्षा भी हो जायगी।

बचाने के अभिप्राय से अनशन करना दूसरी है। और त्याग (दान) के लिए अनशन करना अलग ब है। ज्ञारों ने दान, ील, तप और भाव का म या है। नी ितना तप करो उतना ही दान करो, यह ब है। तुम तप करके दूसरे भूखों मरने वालों को दान दो तो उन । होगा ौर म घाटे में भी नहीं रहोगे! जिसके य में समभाव होगा, जिसके अन्तःकरण में पर के प्रति करुणा का भाव उद होगा, वह तप किये विना नहीं रहेगा।

हण या मा-हन, ब्राह्मण को कहते हैं। ब्राह्मण में ब्रह्मचर्य के साथ 'मत मार' यह अर्थ भी गर्भित है। अर्थात् जो स्थूल-णातिपात स्वयं निवृत्त हो कर, दूसरों को हिं का—न

मारने का—उपदेश देता है र ब्रह्मचर्य का पा करता है वह 'मा-हन' कहलाता है। ' मार' इस प्रकार के द किसी के मुख से निकलेंगे ? जब वह स्वयं रता होगा, वह दूसरों को नहीं मारने का उपदे कैसे दे सकता है ? वह तो मारने का ही उपदेश देगा। 'माहन' का र्थ तो ऐ ब्राह्मण हैं जो - चर्य पालन के साथ ही 'मतमार' का उपदेश दे है। लेकिन जो पुरुप यह कहते हैं कि—'मैं मंत्र पढ़ता ँ, तू री चला' तो उसे ब्राह्मण किस प्रकार कहा जा सकता है ?

तात्पर्य यह है कि श्रमण और माहन नक ी भी होते हैं। इस लिए 'तथारूप' विशेषण ाकर उसका निराकर कर दिया है।

यहां एक प्रश्न यह खड़ा किया जा सकता है कि धर्म की त किसी साधारण श्रमण--माहन से सुनी जाय या तथारूप श्रमण--माहन से सुनी जाय, उसमें क्या अन्तर है ? इसका उत्तर यह है कि शब्द, ब्रह्म माना जाता है। शब्द में ब त शा हैं। तथारूर वाले, शा को प्रेम से नाएंगे और अतथारूप वाले विना प्रेम के सुनाएंगे। प्रेम से सुनाये और विना प्रेम से सुनाये मे बहुत अन्तर पड़ता है। एक हाथी--दांत, हाथी के मुँह में लगा हुआ होता है, बड़े-बड़े दर्वाजे को तोड़ देता है ार दूसरा हाथी—दांत स्त्रियों की चुड़ी का है। हाथी—दांत तो वही

में ।

है, परन्तु चूहो ।हा –दांत नहीं तोड़ कता, पुरुषों के कलेजे को भले ही ते दे, यानी सुन्दरता ले ही बढ़ा के। इसी तथारूप वाले श्रमण शब्द, थी के मुँह मे गे हुए दांत के सम ली हैं र थारूप ले शब्दों को अलंकारी भले ही बना दें, शब्द–चातुर्य भले ही कमा , किन उनके शब्दों में वह वास्तविक शान्ति नहीं आ सकती। इसी लिए में तथारूप विशेषण देकर यह व स्पष्टतया सूचित करदी है।

भगवान् कहते हैं–हे गौ ! ऐसे तथारूप श्रम - माहन के से गर्भवती । व्याख्यान नती है और उस व्याख्यान को जीव भी सुनता है। व्याख्यान सुन कर गर्भ जीव धर्म की ऊँची भावना भाता है और उ समय काल है तो स्वर्ग में ता है।

इस प्रश्नोत्तर यह निष्कर्ष निकलता है कि गर्भ के बालक को स्वर्ग भेजना या नरक भेजना बहुत छ माता के धीन है। मा , अपने लक को जहां चाहे वहीं भेजने के योग्य सकती है। जिस मा के गर्भ का जीव स्वर्ग जाता है, माता ढोंग की पूजा करने वाली नहीं ती। गर्भव अधिकांश ढोंग की पूजा रती हैं, इस ए गर्भस्थ पर भी वैसे ही संस्कार पड़ते हैं।

तथारूप श्रमण-माहन के वचन आर्य है । उनके वचनों मे जरा भी विषमता नहीं है । जिस वचन मे जरा भी विषमता न हो वही आर्य वचन कहलाता है । श्रमण–माहन के मुख से निकले अनेक आर्य वचनो का तो कहना ही क्या है, अगर एक वचन भी गर्भ का बालक सुनकर धारण कर लेता है, तो भी वह स्वर्ग चला जाता है ।

श्रावक को ब्राह्मण या माहन क्यों कहा है ? इसका कारण यह है कि णत्व का आधार कर्म है । कर्म से ही ब्राह्मण कहलाता है । उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है:–

कम्मुणा बम्हणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ ।
कम्मुणा वेसिओ होई, कम्मुणा हवइ सुद्दाओ ॥

र्थात्–अमुक प्रकार के कर्म से ही ब्राह्मण होता है, अमुक प्रकार के कर्म से क्षत्रिय कहलाता है, अमुक प्रकार के कर्म से वैश्य कहलाता है और अमुक कर्मों के कारण शूद्र कहलाता है ।

मनुस्मृति मे भी यही बात कही गई है ।

श्रावक स्थूल प्राणातिपात नहीं करता है । और 'जीव को मत मारो' यह सिद्धांत प्रत्येक स्थान पर प्रकट करता है । यानी जो स्वयं हिंसा से निवृत्त होकर दूसरों को भी निवृत्त होने का उपदेश देता है, वह हन–श्रावक या ब्राह्मण कहलाता है ।

इस प्रकार माहन का अर्थ ब्राह्मण है, परन्तु वही ब्राह्मण है जो ब्रह्मचर्य का पालन करता हो। स्वस्त्रीसंतोषी और पर त्यागी भी देशब्रह्मचारी कहलाता है। 'एक नारी सदा ब्रह्मचारी' यह कहावत लोक में प्रसिद्ध ही है। ऐसे श्रमण-माहन के एक भी आर्य धर्म वचन को धारण करने वाला गर्भ का बालक स्वर्ग जा सकता है।

वचन और प्रवचन में अन्तर है। 'प्रकृष्टं वचनं-प्रवचनम्' अर्थात् उत्कृष्ट बोलना प्रवचन कहलाता है। अथवा 'प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनम्' अर्थात् उत्कृष्ट पुरुष का वचन प्रवचन कहलाता है। इसके विपरीत साधारण बोलचाल को वचन कहते हैं। न्यायाधीश (जज) घर में भी बोलता है और न्यायालय में भी बोलता है। परन्तु उसके दोनों जगह के वचनों में अन्तर रहता है। उत्कृष्ट वचन उसी के कहे जा सकते हैं जो निष्पक्ष हो-मध्यस्थ हो। इस लिए प्रवचन का अर्थ प्रवचन है। जिसके राग-द्वेष हो गये हैं और जिसमें पूर्ण ज्ञान है, वही प्रवचन कर सक है। जिसका जीवन-व्यवहार प्रवचन के रंग में रंगा हुआ है, जो प्रवचन के अनुसार ही व्यवहार करता है, उसी से सुना हुआ प्रवचन विशेष प्रभाव जनक होता है। इसी कारण भगवान् ने 'तहारूवाणं समणाणं माहणाणं' कह कर यह त स्पष्ट कर दी है।

पापकर्मों से रहने वाला र्य कहलाता है। और यों के आचार-विचार धी वचन को प्रवचन कहते हैं।

जिसके वचन में निर्दोषता हो और वचन, सुनने वाले को पाप से हटाए, पुरुष के ये वचन को मानना उचित है। इसके विरुद्ध न के अ उदय और शुद्ध जीवन व्यवहार रीतें बड़े से बड़े पंडित की पाप वर्धक त भी सुनना चित नहीं।

यह भी देखना उचित है कि प किसे कहना चाहिए? शा कारों ने प के रह भेद दिये हैं। इन रह को भली-भांति समझ लेने बहुत कु पापों से बचाव हो है। रह पापों के अवान्तर भेद पापों बचना कदाचित् सं न हो तो भी मूल अठारह पापों से बचने वाला भी कहने धिकारी हो सक है।

अठारह पापों में पांच मुख्य हैं। फिर, , मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरि द, रति-अरति, यामृषा और अठारहवाँ मिथ्यादर्शन है। मिथ्यात्व का अर्थ है-वस्तु को उल्टी मानना। अर्थात् धर्म को अधर्म, अधर्म धर्म, जीव को अजीव, अजीव को जीव, को अ और असाधु को साधु आदि मानना। इन अठारह पापों से बचा रहने पुरुष आर्य कहलाता है। र पो

से बचने के लिए उपदेश जो हैं, वह ये हैं। एक भी आर्य वचन गर्भ के को और । में बलवान् देता है।

पुरुष से करता है, किन पापी से घृणा नहीं । पापी से पाप को ब । है। अक्सर लोग प घृणा नहीं करते, किन्तु पापी करते हैं। कोई गोघाती पके मने प उसे झिड़क कर कहेंगे—'चल, , पा !' लेकिन ऐसा कहना पाप है या नहीं ? मित्रों ! अगर ई ऐ पापी के । तो पको सोचना चाहिए—' भी आर मेरे ही है, परन्तु यह पाप में है। हे प्रभो ! इसकी मेरे ही समान या म से भी धिक वल ।'

हिं हिं नहीं मिट सकती। जो हिं । हिंसा मिटाने का विचार ते हैं, वे विचारक नहीं है। इ से हिंसा की परम्परा दीर्घ बन सकती है, हिं उच्छेद नहीं हो ता। म लीजिए, एक दमी हिंसा कर रहा है। हिंसा करते देख रने दौड़ते हैं या मारते हैं आपकी यह वि है ? आप स्वयं हिंसा में प्रवृत्त हो पहले हिं क की कोटि में पहुँच जाते हैं। क प दूसरों

की हिंसा को बुरा समझते हुए भी अपनी हिंसा को बुरा न समझेंगे ? अगर आप अपनी हिंसा को हेय नहीं समझते तो दूसरों द्वारा होने वाली हिंसा को हेय समझने का आपको क्या अधिकार है ? अगर हिंसक जीव के प्रति आपके अन्तःकरण में सच्ची करुणा विद्यमान है तो प्रेम से उसे हिंसा से दूर करो। आपकी करुणा जैसी हिंस्य जीव पर है, वैसी ही हिंसक पर होनी चाहिए। आपको मरने वाला जीव अगर प्यारा लगता है तो मारने वाला भी प्यारा ही लगना चाहिए। उस पर भी आपको दया करनी चाहिए। ऐसा करने से आप अपना कल्याण तो करेंगे ही, साथ ही प्रेम के अद्भुत मंत्र से सहज ही हिंसक को हिंसा से बचा सकेंगे। अतएव पापी से कभी घृणा मत करो, केवल पाप से घृणा करो। अलबत्ता, पापी के पापों की सराहना भी न करना और उसके पापों को अपने आत्मा में प्रविष्ट न होने देना। सोचना कि यह अज्ञान के कारण पाप कर रहा है वह अज्ञान मुझमें भी न आ जावे। मेरे अज्ञान का अन्त तभी होगा, जब मैं पापी के बदले पाप से घृणा करूँगा।

कभी—कभी ऐसा अवसर आ पड़ता है कि पापी से असहकार करना अनिवार्य हो जाता है। और उस समय ऐसा करना भी अच्छा होता है। मगर असहकार में भी घृणा या द्वेष को स्थान नहीं है। असहकार, पाप की भागीदारी से बचने के

लिए किया जाता है। डाक्टर यदि रोगी को लेकर पड़ा रहे तो रोगी को भी फायदा न होगा और स्वयं डाक्टर भी रोगी हो जायगा। इस लिए डाक्टर दूसरे को भी यही कहेगा कि रोगी के रोग के चेप से बचने के लिए तुम दवा पास रक्खो और रोगी से चिपटो मत। यानी डाक्टर, रोगी का रोग भी मिटाना चाहता है और अपने में तथा दूसरे में रोग भी नहीं फैलने देता।

शा में भी ऐसी बात समझाई है, किन सम -फेर से लोग कुछ का थे करते है। उदाहरण के लिए--शा ों मे कहा है कि हिंसक, गोघाती एवं शराबी की संगति मत करो। इसका अर्थ हम लोग यह समझ बैठते है कि उनसे घृणा करो। लेकिन ऐसा अर्थ समझना भ्रम है। हमे सोचना चाहिए कि शा कारों ने संगति न करने का उपदेश क्यो दिया है? शा -कारों का कथन है कि आत्मा तो पापी भी हमारे ही सामन है, लेकिन अगर हमारे भीतर कमजोरी ई तो उसका पाप हम में घुस जायगा। अतएव पाप से बचे रहने के लिए पापी की संगति मत करो। हां, गर म अपने में पाप न आने देकर उस पापी का पाप मिटा सकते हो, जैसे डाक्टर रोगी का रोग अपने मे न आने देकर मिटा देता है, तो पापी की संगति करके उसका पाप मिटाना अच्छा ही है। मगर इतनी दृढ़ता तुम्हारे भीतर नहीं है तो पापी से असहकार करना अच्छा है।

में एक धर्मात्मा ि की ई है, जिसने ` पुत्र के विरू चोरी की गवाई दी थी। तात्पर्य यह ह कि पापी को उत्तेजन देना ठीक नहीं है ` ऐसा करने के लिए कभी असह करना भी उचित हो है, परन्तु किसी भी दशा में पापी से घृणा करना उचित नहीं हो ।

कदाचित् मेरा कोई ` धर्म न ले तो उससे सहकार करने के सिवा र । उ है ? ` करने अर्थ कोई फूट मझे तो भ ही `, यह फूट ना नहीं है, यह तो धर्म पालन है। फूट में भी सकती है वह चेला अपने दोष का श्चित्त करके धर्म स्वीकार करे और फिर भी हम उसे ` साथ सम्मिलित न करें।

` म ामी के का जो उत्तर भगवान ने दिया है, उसके विषय में एक आ का यह की जा कती है कि गर्भ वालक माता के कान से कैसे सुन स है ? इसका समाधान यह है—एक आदमी, एक कमरे में ` कर बे । है। कमरे की दो दीवारों में से एक में छेद है और दूसरी में नहीं है। तो जिस दीवार में छेद नहीं है, के दूसरी ौर बै हुआ आदमी शब्द नहीं सुन सके , परन्तु जिस दीवार में छेद है, उसके दूसरी ओर वैठने शब्द न ` ।। इसी

माता के कान में होकर नाड़ियों द्वारा गर्भ में भी शब्द पहुँचता है। इसके सिवा संकट के समय इन्द्रियों का वेग स्थिर और प्रबल होता है, इस कारण भी गर्भ का बालक बात सुन लेता है। उदाहरण के लिए कीड़ी की अपेक्षा आपके नाक के द्वारा विषय-ग्रहण करने की शक्ति अधिक है, फिर भी वस्तु की जितनी गंध कीड़ी को आती है, उतनी आपको नहीं आती। किसी जगह पड़ी हुई शक्कर की गंध चिऊँटी को तो आ जाती है, मगर आप को क्यों नहीं आती? चिऊँटी के आंख नहीं हैं और वह बिल में घुसी है, फिर उसे यह खबर कैसे लग गई कि इस जगह शक्कर पड़ी है? वास्तव में वह गंध उस बिल में गई, जहा चिऊँटी थी। शक्कर के गिरते ही शक्कर की गंध सब जगह फैल जाती है। उस गंध के सहारे कीड़ी बिल से बाहर निकल कर चली और जिधर से अधिक गंध आने लगी, उसी ओर चल पड़ी। चलते-चलते वह शक्कर के पास पहुँच गई। इस प्रकार गंध के द्वारा कीड़ी ने इतना पता लगा लिया, परन्तु आप भी क्या इतना पता लगा सकते हैं?

'नहीं!'

क्यों? इस का कारण यह है कि चिऊँटी में यद्यपि मन नहीं है, तथापि अध्यवसाय है और वह एकाग्र है। इसी कारण उसे जल्दी गंध का पता लग जाता है। आप का अध्यवसाय

थ्रँ रहता है। ाप के मन में बड़े-बड़े विचार उत्पन्न होते रहते हैं। इ ि ए ापको पता नहीं लगता।

पिछली रात में जाग जाने पर आप को जो शब्द सुनाई देते हैं वे दिन में क्यों नहीं सुनाई देते ? इसका कारण भी यही है कि पिछली रात मे व्याघात नहीं होते और अध्यवसाय एकाग्र रहता है। इसी प्रकार चिऊँटी का अध्यवसाय एकाग्र रहने से उसे गंध का ज्ञान जल्दी हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि गर्भ के बालक का मन इधर-उधर अधिक नहीं डोलता। अतएव माता के ध्यान में जो बात आती है, वह गर्भ बालक के ध्यान मे भी आ सकती है।

लोग सन्तान प्राप्त करने के लिए न जाने कितनी खटपट किया करते हैं, परन्तु सन्तान पाकर उसे संस्कारयुक्त बनाने के लिए कोई विशेष प्रय नहीं करते। आप यह जानते हुए भी कि माता के विचारों एवं चेष्टाओं का प्रभाव गर्भ के बालक पर पड़ता है, क्या मा को सुधारने की चेष्टा करते हैं ? अगर आप यह चेष्टा नहीं करते तो धरी हुई सन्तान कैसे पा सकते हैं ? आपके सामने अच्छी से अच्छी व मोजूद है, उसे लेना न लेना आपकी इच्छा पर निर्भर है।

भगवान् महावीर के , भगवान् की जय बोलने से

पहले महारानी त्रिशला ोर हाराजा सिद्धा की जय क्यों बोलते हैं ? प्रयोजन तो भगवान् हैं, फिर इनकी जय बोलने का क्या प्रयोजन है, ? मगर ऐमा त कौन होगा जो भगवान् को तो माने और उनके माता–पिता को भुलादें ? कन्या का किसी वर के साथ विवाह कर देने पर अगर कन्या, उस वर के माता-पिता के प्रति अनुगृहीत न हो, उन्हें वर से भी पहले पूज्य न माने तो वह कन्या कैसी समझी जायगी ? यह बात आप लोग जानते ही हैं। इसी प्रकार भगवान् महावीर में जो शा आई, उसका कुछ भी श्रेय क्या उनके माता-पिता को नहीं है ? अतएव भगवान् को पूज्य मानने वालों को चाहिए कि वे उनके माता-पिता को भी न भूले, जिन्होंने भगवान् महावीर को संस्कार संपन्न बनाने का प्रय किया है। ऐसा करने से ही ता ठहरेगी।

लोग प्रायः गर्भव ी का कोई ध्यान नहीं रखते। गर्भवती ी गंदा भोजन करे, गंदी हँसी-मस री करे और गंदा व्यवहार करे तो क्या गर्भ पर बुरा प्रभाव न पड़ता होगा ? पुरुष, गर्भवती ी से भी संसार-व्यवहार करने से बाज नहीं आते, इसका असर गर्भ पर ब त बुरा पड़ता है। ऐसा व्यवहार तो पशु भी नहीं करता। मगर मनुष्य कहलाने ले जीव अपने विवेक को भूल र विषयवा । के कीड़े बने रहते हैं।

कदाचित् धर्मशास्त्र पर र ि पर विश्वास न हो

तो भी डाक्टरों की बात तो मानो ! डाक्टरों का मत निश्चित रूप है कि जो पुरुष गर्भवती स्त्री से मैथुन करते हैं, वे गर्भ के बालक पर घोर अत्याचार करते हैं। ऐसा करने वाले लोग पिशाचों से भी गये-बीते हैं।

मतलब यह है कि धर्मशास्त्र और सायंस—दोनों स्पष्ट बतलाते है कि गर्भवती स्त्री के सामने जो दृश्य होता है, उसका असर गर्भ पर भी पड़ता है। गर्भवती के सामने जो शक्ल-सूरत होती है, उसका प्रभाव गर्भ की संतान पर पड़े बिना नहीं रहता। इसी प्रकार गर्भवती स्त्री जो सुनती या सोचती है, उसका असर भी गर्भ पर अवश्य पड़ता है।

धर्म कामना और पुण्य कामना का फल मोक्ष कामना और स्वर्ग कामना है। यद्यपि कामना मात्र वर्जित है, पर यहां कामना का अर्थ दूसरा ही है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अगर स्वर्ग की भी कामना नहीं करनी चाहिए तो फिर शास्त्र मे धर्मकामना, स्वर्ग-कामना तथा मोक्षकामना का पाठ क्यों आया है ? इसका उत्तर यह है कि मान लीजिये एक आदमी पथ्य खाता है। ऐसे आदमी के लिए यह कहा जाता है कि यह निरोग रहने की कामना करता है। और जो आदमी कुपथ्य खाता है, उसके सम्बन्ध मे यह

कहा जाता है कि यह रोगी बनना चाहता है। इसी प्रकार धर्म सुनने वाले के प्रति, धर्मश्रवण करने के कारण यह कहा जाता है कि यह आत्मा स्वर्ग और मोक्ष का कामी है।

गर्भ का बालक स्वर्ग और मोक्ष की कामना करता है। कामना और कांक्षा में अन्तर है। अत्यन्त बढ़ी हुई कांक्षा, कामना कहलाती है। जैसे एक तो प्यास का लगना और दूसरे प्यास का अत्यधिक बढ़ जाना। प्यास बढ़ जाने पर पानी के लिए बेचैनी हो जाती है। पहली कांक्षा थी तब बेचैनी नहीं थी। जब पानी के बिना नही रहा जाता तब कामना हुई।

इससे आगे कहा है स्वर्ग और मोक्ष की पिपासा होती है। जैसे प्यास लगने पर पानी पीने की इच्छा होती है, इसी प्रकार धर्म सुनने पर गर्भ के बालक में स्वर्ग और मोक्ष की पिपासा होती है।

यहां भ[illegible] और धर्म दोनों का समावेश है। भक्ति वही सच्ची है जो धर्म को चाहे। एक भक्त ने कहा है।

भक्ति एवी रे भाई एवी जेम तरस्या ने पाणी जेवी।
एक माछलो जल में रमे छे, निशदिन रहेवो तेने गमे छे।
कोई पापीए बाहर काढी, मुई तड़फड़ी अंग पछाडी।
जाव जावर्ता जल ने समरयो, एम गुरु चरणे चित्त धरयो॥

धर्म-पुण्य की पिपासा या भक्ति की पिपासा एक ही वस्तु है। कोई पूछे कि भक्ति कसे करें? तो इसका उत्तर यह होगा

कि जैसे मछली जल की भक्ति करती है, वैसे ही भक्ति करो। मछली सदा जल में ही रहती है। लेकिन क्या वह कभी ऐसा सोचती है कि मुझे जल में रहते बहुत दिन हो गये, अब जल से बाहर निकलूँ? नहीं। यह तो मछली से ही पूछो कि उसे निरन्तर जल में रहना कैसे अच्छा लगता है! इसी प्रकार भक्त की बात भक्त ही समझ सकता है।

मछली को कोई जल से बाहर निकाल दें तो वह तड़फड़ा कर जल को ही याद करेगी। उसे कोई मखमल की गादी पर रक्खे और बढ़िया से बढ़िया भोजन दे, लेकिन उसे वह सब च्छा नहीं लगेगा। वह जल के लिए ही तड़फड़ाएगी। जबतक उसके प्राण नहीं निकल जाएँगे, वह जल के लिए ही बेचैन रहेगी। आप भी मछली की तरह धर्म या गुरु को मानने लगो तो आपका कल्याण होगा।

आपमें धर्म की भावना तो है, किन्तु कल्याण तब होगा जब वह भावना .ती जाय। धर्म की भावनामें लौकिक वासना होना दुखदायी है, इसलिए वासना को मत उत्पन्न होने दो और, जो पहले से विद्यमान है, उसे निकाल बाहर करो। जैसे मछली को पानी ही सुहाता है और पानी के अतिरि और कुछ भी नहीं सुहाता, इसी प्रकार आपको धर्म ही प्रिय लगे और धर्म के सिवाय और छ भी प्रिय न लगे। वासना. ाग दो। भ किसी प्रकार के बदले के लिए मत करो। कामना रहित होकर भक्ति करने वाले का कल्या होता है।

र्भ स्थित

मूलपाठ

२ जीवे णं भंते ! गब्भगए णे उ णए वा, पा ल्लए वा, खुज्जए व, अच्छेज्जए वा, चिट्ठज्जए वा, निसीएज्ज वा, तुयहेज्ज वा, माउए ुव णीए सुवइ, जागर णीए जागरइ, ुहिया ए भवइ, दुहियाए दुहि भवइ ?

उत्तर ता गोयमा ! जीवे णं गब्भगए णे जाव दु याए दुहिए भवइ, अहे णं पासवणक्का यंसि सीसेण व, एहिं वा आगच्छाति, सम आगच्छइ, तिरियं आगच्छइ, विणिह यं व इ, व वज्जमाणि य से कम्माइं

बद्धाइं, पुट्ठाइं, निहत्ताइं, कडाइं, पट्ठावियाइं, अभिनिविट्ठाइं, अभिसमन्नागयाइं, उदिन्नाइं, नो उवसंताइं भवंति, तओ भवइ दुरूवे, दुवण्णे, दुगन्धे, दुरसे, दुफासे, अणिट्ठे, अकंते, अप्पिए, असुभे, अमणुन्ने, अमणामे, हीणस्सरे, दीणस्सरे, अणिट्ठस्सरे, अकंतस्सरे, अप्पियस्सरे, असुभस्सरे अमणुन्नस्सरे, अमणामस्सरे, अणाएज्जवयणे, पच्चायाए, या वि भवइ। वण्णावज्झाणि य से कम्माइं नो बद्धाइं, पसत्थं णेयव्वं जाव—आदिज्जवयणे पच्चायाए या वि भवइ।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति।

संस्कृत छाया—

प्रश्न—जीवो भगवन्! गर्भगतः सन् उत्तानको वा, पार्श्वीयो वा, आम्रकुब्जको वा, आसीत् वा, तिष्ठेत् वा, त्वर्त्तयेत् वा, मातरि स्वपत्या स्वपिति, जाग्रत्या जागर्ति, सुखितया सुखितो भवति, दुःखितया दुःखितो भवति?

उत्तर—हन्त गौतम ! जीवो गर्भगतः सन् यावत् दुःखितायां दुःखितो भवति, अथ प्रसवनकालसमये शीर्षेण वा, पादाभ्यां वा आगच्छति, सम्यग् आगच्छति, तिर्यग् आगच्छति, विनिघातं आपद्यते, वर्णवध्यानि च तस्य कर्माणि बद्धानि, स्पृष्टानि, निधत्तानि, कृतानि, प्रस्थापितानि, अभिनिविष्टानि, अभिसमन्वागतानि, उदीर्णानि, उपशान्तानि भवन्ति । ततो भवति दूरूपः, दुर्वर्णः, दूरसः, दुःस्पर्शः, अनिष्टः, अकान्तः, अप्रियः, अशुभः, अमनोज्ञः, अमनोमः, हीनस्वरः, दीनस्वरः, अनिष्टस्वरः, अकान्तस्वरः, अप्रियस्वरः, अशुभस्वरः, अमनोज्ञस्वरः, अमनोमस्वरः, अनादेयवचनः, प्रत्याजातश्चापि भवति । वर्णवध्यानि च तस्य कर्माणि नो बद्धानि, प्रशस्तं ज्ञातव्यम् यावत्-आदेयवचनः प्रत्याजातश्चापि भवति ।

तदेवं भगवन् ! तदेवं भगवन् ! इति ।

मू ार्थ—

म वन् ! गर्भ रहा हु । जीव चित होता है रव वाला होता है, स के समान ड़ा होता है, होता , बैठा होता है या पड़ा-सोता होता है ? तथा ज । ा रही हो तो सोता होता है, जब ाता । ती

हो तो । ता है, माता के सुखी होने पर सु ी होता है और ाता े दुः ी होने पर दुःखी होता है ?

उत्तर ौत ! हाँ, र्भ में रहा हुआ जीव यावत्-

ब माता दुः ी हो तो दुःखी होता है। अब, वह र्भ र मस्त द्वारा या पैरों द्वारा बाहर ावे तो ठी तर ाता है, गर । । हो र आवे तो र जाता है। ौर उ जीव के र्म यदि भ रूप ें बँधे हों, स्पृष्ट हों, निधत्त हों, त हों, प्रस्थापित हों, भिनिविष्ट हों, अभि-मन्वागत हों, उदीर्ण हों, और उपशान्त हों, तो वह ीव कुरूप, राब वर्णवाला, राब ंध वा ।, खराब र वाला, खराब स्पर्श वाला, अनिष्ट, अकान्त, प्रिय, अ भ, मनोज्ञ, मनाम (जिस का स्मरण भी खराब गे) हीन स्वर वा ।, दीन स्वर वाला, निष्ट स्वर वा ।, ां स्वर वाला, अप्रिय स्वर वाला, भ स्वर वाला, मनो स्वर वाला, अमनाम स्वर वाला, अनादेय वचन (जि की बात कोई न माने) हो और यदि उ ीव े ै अशुभ रूप में न बंधे हों तो र प्रशस्त मझना, यावत्-वह जीव आदेय वचन वाला, होता है।

'भ वन्! यह इसी प्र ार है, भगवन् यह ी ार है!' गौतम स्वामी ऐसा ह र विचरते हैं।

व्याख्या —

गौतम स्वामी ने भगवान् से गर्भ के जीव के विषय में स्वर्ग–नरक संबंधी बात पूछी। आत्मा का स्वर्ग–नरक आदि से प्रगाढ़ संबंध है, फिर भी स्वर्ग नरक तो दूर रहा आत्मा को अपने ही संबंध की बात ठीक तरह समझ में नहीं आती। अनेक ऐसे गूढ़ विषय हैं जो साधारण समझ वालों की समझ में नहीं आते; परन्तु समझ में न आने के ही कारण किसी बात को गलत नहीं मान लेना चाहिए।

अब गौतम स्वामी, भगवान् से ऐसी बात पूछते हैं, जो प्रत्यक्ष में भी दिखाई दे सकती है। गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं–भगवन्! जीव गर्भ में उत्तान–आसन से रहता है यानि चित (ऊपर को मुख किये) सोता है, या करवट लिये रहता है? आम्रकुब्ज आसन से रहता है अर्थात् नीचे सिर और ऊपर पैर–इस प्रकार आम्र फल की भांति रहता है? अथवा खड़ा रहता है, बैठा रहता है या सोता रहता है, ? या यह सब बातें माता पर आधार रखती हैं? अर्थात् माता के खड़े रहने रहने पर खड़ा रहता है, बैठने पर बैठता है और सोने पर सोता

है ? तात्पर्य यह है कि गर्भ का बालक स्वेच्छा से सोता, बैठता और खड़ा रहता है या माता सोने, बैठने और खड़ी होने पर सोता बैठता एवं खड़ा रहता है ?

हम लोगों के लिए गर्भ की बात भूतकाल की हो गई है, परन्तु भूत और भविष्य में गर्भ का क्रम एक-सा ही है। अतएव गर्भ के विषय में माता को सब प्रकार से सावधानी रखने की आवश्यकता है। माता के संस्कारों पर ही सन्तान का शुभ-अशुभ निर्भर है। माता को गर्भ के बालक पर अपनी ओर से तो दया रखनी ही चाहिए, यद्यपि वह बालक भी अपने साथ पुण्य-पाप लाया है। मगर हमें अपने कर्त्तव्य—अकर्त्तव्य को नहीं भूलना चाहिए।

कदाचित् यह कहा जाय कि गर्भ का बालक अपने कर्म भोगता है, उसमें हम हस्तक्षेप क्यों करें ? अथवा हमारे हस्तक्षेप से क्या बन-बिगड़ सकता है ? तो यह कथन भ्रमपूर्ण है। गाय को घर में बांध कर भूखी प्यासी रक्खो, तो भोजन में अन्तराय देने वाला कौन होगा ? कहा जा सकता है कि गाय भी अपने कर्म भोगती है तो भी तुम्हारी निर्दय भावना से तुम्हें अशुभ कर्म क्यों नहीं बंधेंगे ? शास्त्र में भक्त—पानविच्छेद नामक अहिंसाणुव्रत का अतिचार क्यों बतलाया है ? अगर तुम्हें

भोजन-पानी का अन्तराय देने पर भी पाप नहीं लगता, तो फिर कसाई को बुरा कैसे कहते हो। कसाई भी अपना बचाव इसी प्रकार कर सकता है। वह कह सकता है कि पशु अपने किये कर्म भोगते हैं मैं किसी को क्या मार सकता हूँ ! कसाई को बुरा कहना और अपने कर्म भुगतने के लिए किसी जीव को भूखा रहने देकर भी अच्छे बने रहो, यह क्या न्यायसंगत है ? कसाई को अपने काम का और दयावान् को दया का बदला मिलेगा। ऐसा न समझ कर, यह कहना कि भूखा रहने वाला अपना कर्म भोगता है, हमें इससे क्या मतलब है, मिथ्या है। ऐसा होने पर तो कसाई भी निर्दोष ठहरेगा और उपदेश की, साधुओं की तथा साधुओं को जीवदया का उपकरण रखने की भी आवश्यकत नहीं रहेगी। जिन जीवों को अपने किये कर्म के अनुसार मरना है, वे मर जाएँगे और जिन्हें जीना है, वे जीवित रहेंगे। फिर जीवरक्षा की सावधानी का प्रयोजन ही क्या है ? अगर यही निश्चय ठीक है तो फिर क्षत्रिय लोग तलवार का और साधु ओघे का भार क्यों उठावें ? न कोई किसी को मार सकता है, न जिला सकता है, फिर इस टपट में पड़ने की क्या जरूरत है ?

क्षत्रिय लोग रक्षा के लिए या दूसरे को मारने के लिए तलवार रखते हैं, परन्तु साधु जन केवल जीवरक्षा के ही लिए ओघा

रखते हैं। तात्पर्य यह है कि गर्भ के बालक को उसके पुण्य-पाप पर छोड़ देना और उसकी रक्षाके लिए उचित सावधानी न रखना घोर निर्दयता का कार्य है। सच्ची समझदार माता एक क्षण के लिए भी ऐसा क्रूर विचार नहीं कर सकती। खेद है कि कुछ लोग आज गर्भ की रक्षा को भी पाप कहने की धृष्टता करते हैं!

भगवान् ने गौतम स्वामी को बतलाया है कि गर्भ का बालक, माता के सुख से सुखी और दुःख से दुखी होता है। बालक का माता से जितना सम्बन्ध है उतना सम्बन्ध किसी दूसरे से नहीं है। इसी लिए माता को 'देवगुरु संकासा' कहा गया है।

अब गौतम स्वामी, भगवान् से बालक के जन्म-समय की हकीकत पूछते हैं कि बालक कैसे जन्मता है?

किसी-किसी बालक का प्रसव सिर की तरफ से होता है और किसी का पांव की तरफ से होता है। कोई तो पांव और मस्तक से सम होकर जन्मता है और कोई तिर्छा होकर। जब बालक तिर्छा होकर जन्मता है, तब बालक को और माता को कैसी वेदना होती है, यह या तो वही जान सकते हैं या ज्ञानी जान सकते है। ऐसे समय के लिए कुछ उपाय है। उपाय करने से बालक अगर सीधा हो गया तब तो ठीक है, नहीं तो बालक

...र उसकी म... हो जाता है कई वार माता की रक्षा के लिए गर्भ का वालक काट-काट कर निकाला जाता है।

यह जन्म की वात ...ई। अब जन्म के बाद की वात वत-...ई जाती है। भगवान् ...माते हैं—हे गौतम! गर्भ से निकले हुए वालक ने अगर अच्छे वर्ण के काम (पूर्व भव में) नहीं किये हैं तो उसकी स्थिति अच्छी नहीं होती।

कर्म दो प्रकार के हैं-साध्य और असाध्य। कर्मों को न मानना भी मूर्खता है और कर्मों का विपरिणाम न मानना भी मूर्खता है। कर्मवाद के साथ उद्योग वाद भी है। कर्मवाद श्रद्धा करने की चीज है और उद्योगवाद कार्य रूपमें परिणत ...ने की वस्तु है।

हम सभी लोग गर्भ में रह कर ही बाहर आये हैं, इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। यह भी प्रकट है कि हम लोग ...ड़े होकर गर्भ से वाहर नहीं निकले। वल्कि सिर या पैरों की ओर से अखण्ड रीति से निकल आये हैं। लेकिन क्या कभी आप इन सब बातो का स्मरण करते हैं? आप एक ऐसे ...न पर थे, जहां आदमी मर भी जाता है। मगर आप उस स्थान से जीवित ही बच आये। तो अब इस जीवन को बुरी करतूतों में खपा देना अच्छा है या अच्छे कार्यों में लगाना

अच्छा है ? आप इस बात पर विचार कीजिए और दुर्लभ जीवन को सार्थक बनाइए।

गर्भ से—जहाँ बालक मर भी जाता है—क्या आप झूठ, कपट आदि के प्रताप से बच आये हैं ? आज आप आनन्द-भोग को ही अपने जीवन का लक्ष्य मानते हैं, मगर क्या आनन्द-भोग के प्रताप से ही आप गर्भ से जीवित निकले हैं ? अगर ऐसा नहीं है तो फिर यही कहना होगा कि आप ने पूर्व जन्म में दया, शील, संतोष आदि की शुभ क्रियाएँ की थीं, उस पुण्य के प्रभाव से ही आप गर्भ से अखंड निकले हैं। वह पुण्य ही आड़ा आया ऐसे खतरनाक स्थान से बचाया है। अब जन्मने के पश्चात् आप उस पुण्य को भूल कर पाप करते हैं, तो क्या कट-कट कर गर्भ से निकलने का ध्यान नहीं है ? आपकी समझ में यह बात आ गई हो तो अपने पापों को काट कर गर्भ में आने के कारण को रोको। चाहे अभी कर्मस्थिति शेष हो और गर्भ मे आना भी पड़े, तब भी चेष्टा तो यही करो कि तुम्हें फिर गर्भ में न उपजना पड़े। इस बात का सदैव ध्यान रखना कि जहां से मैं इस स्थिति में जन्मा हूँ, उसी नीच योनि—मूत्रपत्र, पर; जैसे शूकर विष्ठा पर लुभाता है वैसे ही, लुभाकर भोग का कीड़ा क्यों बन रहा हूँ ? इस प्रकार विचार कर परमात्मा से प्रार्थना करना कि—हे नाथ ! मुझे बचा। मैं तेरी आज्ञा पालूँगा।

भगवान् ने गर्भ की तीन दशाओं का वर्णन किया । अब जन्मने के पश्चात् की बात बतलाते हैं।

यह तो आप सभी लोग जानते हैं कि प्राणी मात्र पूर्वोपार्जित कर्म लेकर आये हैं। परन्तु समझने की बात यह है कि पूर्व–कर्म बदले भी जा सकते हैं, या जैसे बंधे हैं वैसे ही रहते हैं ? आस्तिक मात्र पूर्व--कर्म तो मानता है, मगर उनके सम्बन्ध में विशेष बातें न जानने के कारण गड़बड़ी हो रही है।

पूर्व कर्म दो प्रकार के होते हैं--शुभ और अशुभ । जो कर्म श्लाघ्य से रहित हैं वे अशुभ कर्म कहलाते हैं । अथवा 'वद्ध' का अर्थ 'बाह्य' भी है। अर्थात् श्लाघा-प्रशंसा से जो बाहर हैं, वह सब अशुभ कर्म कहलाते हैं।

बद्ध कर्म कैसे होते हैं ? कर्म किये बिना नहीं होते। [illegible] यते--इति कर्म जो किया जाय-वह कर्म कहलाता है । सामान्य रूपसे कर्म का बंध होना बद्ध कहलाता है और बंधे हुए कर्मों को विशेष पोषण देना स्पृष्ट कहलाता है।

बद्ध कर्म को पोषण किस प्रकार दिया जाता है, यह बात समझाने केलिए एक उदाहरण दिया जाता है। किसी खेत मे कोई बोई हुई चीज उगती है । उस उगती चीज को जलादि द्वारा पोषण न दिया जाय तो या तो वह सूख जायगी या पैदावार

बहुत कम होगी। इसके विपरीत अगर उसे पोषण मिल गया तो वह विशेष रूप से उत्पन्न होगी। इसी प्रकार एक तो सामान्य रूप से कर्म बांधना और दूसरे उन्हें खूब पोषण देकर ऐसी गाढ़ी तरह से बांध लिया कि फिर उद्वर्त्तन या अपवर्त्तन करण के सिवाय कोई करण न लग सके, इसे निधत्त कहते हैं। तत्पश्चात् कर्मों को घटाया नहीं किन्तु और अधिक पोषण देकर निकाचित कर दिया। निकाचित कर्म-घटते-बढ़ते भी नहीं हैं। उन में कोई भी करण नहीं लगता।

कर्मों को बांधने और पुष्ट करने की बात समझाने के लिए एक उदाहरण लीजिए:—एक आदमी ने पाप किया, यह कर्म का बंध होना कहलाया। फिर किये हुए कर्म की प्रशंसा करके उसे खूब गाढ़ा और पुष्ट बनाया। कदाचित् उस पाप करने वाले को कोई ज्ञानी मिल गया। ज्ञानी ने पापी को समझाया–'देख, भाई ! तूने यह पाप–बुरा काम किया है।' ऐसा सुन कर पाप करने वाले को पश्चाताप हुआ। पश्चाताप करते–करते उसके कर्मों का अपवर्त्तन हुआ, अर्थात् विशेष शुभ अध्यवसाय द्वारा पाप कर्म को पुण्य कर्म के रूप में पलट दिया। और ज्ञानी के बदले यदि किसी अज्ञानी की संगति हो गई और अज्ञानी ने उस पाप कर्म की प्रशंसा कर दी, जिससे पाप करने वाला फूल गया-उसने अपने किये पाप पर गर्व हुआ तो इससे कर्म का उद्व-

र्जन आ। अर्थात् वह बंधे कर्म और भी अधिक गाढ़े हो गये।

जीव के अध्यवसाय के अधीन ही कर्मों की न्यूनता-अधिकता और तरतमता होती है। दो मित्रों की एक कथा प्रसिद्ध ही है कि उनमें से एक धर्मस्थानक मे धर्म क्रिया करने गया और दूसरा वेश्या के घर गया। धर्मस्थानक में जाने वाले ने सोचा अरे यहां क्यों आ फँसा मैं! मेरा मित्र तो वेश्या के घर पहुँच कर मौज उड़ा रहा होगा और मैं यहां आ पड़ा हूँ! इसी प्रकार वेश्या के घर जाने वाले मित्र ने विचार किया—ओह! मैं कितना अभागा हूँ! मेरा मित्र धर्मस्थानक में पहुँच कर आत्मशोधक क्रियाएँ कर रहा होगा या संतों के श्रीमुख से उपदेश सुन रहा होगा और, मैं इस पापस्थानकमें आकर पाप उपार्जन कर रहा हूँ।

इस प्रकार भावना की विशेषता के कारण कर्म के फल में विशेषता आजाती है अर्थात् अशुभ कर्म शुभ रूप में और शुभ कर्म अशुभ रूप में पलट जाता है।

श के अनुसार कर्मों का फल भली भांति समझ लेने ` बेड़ा पार हो जाता है। यों तो वेश्या के घर कभी कोई ही शुद्ध आशय वाला जाता होगा, क्यों कि वेश्या की संगति नीच संगति है। इसी प्रकार साधुओं के यहां पाप भावना वाला भी कोई–कोई ही होता है; साधारणतया साधओं की ति उत्तम ही है।

ऊपर बद्ध आदि के भेद से कर्म की चार अवस्थाएँ बतलाई गई है। शा कहते है कि आत्मा अपने साथ पूर्वजन्म के कर्म लेकर आया है। एक के ऊपर दूसरी और दूसरी पर तीसरी सुई रख दी जाय तो जरा-सा धक्का लगते ही वह बिखर जाती हैं। अगर उन्हें धागे से बांध दिया जाय तो कुछ मिहनत से वह खुलेंगी। अगर वह लोहे के तार से बँधी हों तो किसी शस्त्र का उपयोग करने पर ही वह खुलेगी। लेकिन किसी ने उन्हें गर्म करके घन से कूट दिया तो वे किसी भी प्रकार नही खुल सकती। उनका नामरूप भी बदल जायगा। वे सुई के रूप मे तभी हो सकेगी, जब फिर से उनका निर्माण किया जाय। इसी प्रकार कर्म चार प्रकार से बँधते है। उनमें से तीन प्रकार से बँधे कर्म तो किसी सहायता से नष्ट किये जा सकते है। परन्तु चौथे प्रकार के कर्म भोगे बिना नहीं छूट सकते। ऐसे कर्म निकाचित कर्म कहलाते है। निकाचित कर्म मे करण का प्रयोग नही होता। उन्हे तोड़ने, का इरादा ही नहीं होता। जिस जीव के निकाचित कर्म बँधे है, उसमे ऐसी शुभ भावना उत्पन्न नहीं होती। लेकिन इससे किसी को निराश होने की आवश्यकता नही। जो निकाचित कर्म बद्ध हो गये है, उन्हे भोगना ही पड़ेगा, किन्तु जो नये शभ कर्म बँधेगे, वह निरर्थक नहीं जाएँगे।

जो कर्म बांधे जाते हैं, वे आटे पिण्ड के समान एक रूप

में मिले रहते हैं, फिर भी उनकी जो अलग-अलग व्यवस्था की जाती है, उसे 'पट्ठवियाइं' समझना चाहिए। उदाहरणार्थ-गति नाम कर्म के पुद्गल इकट्ठे किये। परन्तु इन एकत्रित किये पुद्गलों से मनुष्य बनना अथवा पशु बनना, इस व्यवस्था को 'पट्ठवियाइं' कहेंगे। तात्पर्य यह है कि गृहीत कर्म पुद्गलों का विभाग करना 'पट्ठवियाइं' है।

उदयमें आने वाले नामादिक कर्मों की स्थापना 'पट्ठवियाइं' है। 'अभिनिविट्ठाइं' का अर्थ है—तीव्र फल देने वाले के रूप में परिणत करना अर्थात् जो कर्म तीव्र फल देने वाले हैं वह 'अभिनिविट्ट' कहलाते हैं। कर्म बंधने और फल देने के बीच का काल अवाधाकाल कहलाता है। उस अवाधाकाल की समाप्ति अर्थात् कर्म के फल देने को उदय कहते हैं। कर्म का उदय दो प्रकार से होता है—एक तो स्थिति पकने से, दूसरे उदीरणा से। ज्ञानीजन उदीरणा द्वारा कर्मों को उदय में ले आते हैं। कर्म की नियत अवधि से पहले ही तपस्या आदि के द्वारा कर्मों को फल देने के अभिमुख कर लेना उदीरणा है।

शा कार का कथन है कि जन्मे बालक के कर्म अच्छे होंगे तो वह बालक अच्छा होगा; कर्म बुरे होंगे तो वह बालक भी बुरा होगा। अशुभ कर्म वाला बालक कुरूप होता है, कुत्सित वर्ण वाला होता है, उसके शरीर से दुर्गंध आती है, खराब रस

वाला होता है, खराब स्पर्श वाला होता है। वह अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ और अमणाम (जिसका स्मरण करना भी अच्छा न लगे) होता है। उसका स्वर भी दीन, हीन, अनिष्ट, अकान्त आदि पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त होता है। कोई उसकी बात नहीं मानता। शुभ कर्मों वाला इससे सभी बातों में विपरीत शुभ होता है।

गौतम स्वामी बोले-भगवन्! ऐसा ही है, ऐसा ही है! यह कह कर वे संयम तप में विचरने लगे।

इतिश्री विवा प्रज्ञ सूत्र प्रथ
त । म उद्देश्य स । ।

